

अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2014

21



अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2014

सम्पादक मण्डल

श्री नवीनकुमार बज

श्री नगेन्द्रकुमार जैन

श्री चन्द्रप्रकाश जैन

डॉ. जिनेश्वरदास जैन

डॉ. प्रेमचन्द्र राँवका

डॉ. अनिल जैन

श्री निर्मलकुमार जैन

प्रबन्ध सम्पादक

श्री महेन्द्रकुमार पाटनी

मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सम्पादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

सहायक सम्पादक

सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.

जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		(v)
	सम्पादकीय		(vii)
1.	पउमकिति विरचित : 'पासणाहचरिउ'	डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका	1
2.	मुनिश्री रामसिंह का 'पाहुडदोहा'	प्रो. (डॉ.) आदित्य प्रचण्डिया	13
3.	मंदमंदारमयरंनंदणवणं	महाकवि वीर	20
4.	मुनि रामसिंह कृत पाहुडदोहा में अध्यात्म और रहस्यवाद : एक विवेचन	डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल	21
5.	नयरि मणोरमभुअणपइवहो	महाकवि वीर	48
6.	अपभ्रंश साहित्य की छन्द-सम्पदा विभुता और विन्यास	डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	49
7.	सिरिपाल-मयणासुंदरीचरिय	पण्डित गरसेण प्रतिलिपि-श्रीमती माया कौशिक	65
8.	अह मंदराउ जणनयणपिउ	महाकवि वीर	72
9.	कालावली की जयमाल	अज्ञात	73
		अर्थ - सुश्री प्रीति जैन	

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर निर्वाण-दिवस पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसन्धान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 सेण्टीमीटर का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता -

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर - 302 004

प्रकाशकीय

साहित्य-प्रेमियों के लिए 'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का 21वाँ अंक प्रस्तुत है।

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन और अनुशीलन सामान्य लोकचेतना के उदय और विकास के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है। अपभ्रंश के प्रकाशित-अप्रकाशित साहित्य से यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि इस साहित्य को किसी भी रूप में 'सामान्य' व 'महत्वहीन' नहीं कहा जा सकता। अपभ्रंश साहित्य में एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोकजीवन से उत्पन्न ऐहिक रस का राग-रंजित कथन भी। यह साहित्य अनेक शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन-चरित से सम्पन्न है तो सामान्य वणिक-पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से परिपूर्ण भी है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन एवं प्रचार-प्रसार हेतु जयपुर में वर्ष 1988 में 'जैनविद्या संस्थान' के अन्तर्गत 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' की स्थापना की गई।

अकादमी द्वारा 'अपभ्रंश भाषा' के विधिवत् अध्ययन हेतु पत्राचार के माध्यम से दो पाठ्यक्रम संचालित हैं - 1. अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम व 2. अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम। ये दोनों पाठ्यक्रम राजस्थान विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त हैं। इन पाठ्यक्रमों के अध्ययन-अध्यापन को सहज-साध्य बनाने के लिए अपभ्रंश व्याकरण एवं साहित्य सम्बन्धित पुस्तकें हिन्दी व अंग्रेजी में प्रकाशित हैं।

अपभ्रंश भाषा के अध्ययन व लेखन के प्रोत्साहन हेतु अकादमी द्वारा 'स्वयंभू पुरस्कार' प्रदान किया जाता है। इसी क्रम में यह शोध-पत्रिका 'अपभ्रंश भारती' भी प्रकाशित की जाती है।

जिन विद्वान लेखकों के लेखों द्वारा इस अंक को आकार मिला उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं। मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह हैं।

नरेन्द्रमोहन कासलीवाल
अध्यक्ष

महेन्द्रकुमार पाटनी
मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सम्पादकीय

“प्राकृत भाषा के साहित्यिक रूप लेने पर लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश भाषा का उदय और विकास हुआ। जैन आचार्यों ने लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश भाषा को अपनाया और अपभ्रंश में भी साहित्य का सृजन किया। यह क्रम 7वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष तक प्रवहमान रहा।”

“शक सम्वत् 999 (विक्रम सम्वत् 1134) में ‘पउमकित्ति (मुनि पद्मकीर्ति) विरचित ‘पासणाहचरिउ’ अपभ्रंश भाषा का विश्रुत पार्श्वचरित काव्य है, जिसमें पार्श्वनाथ के पूर्व भव मरुभूति और कमठ के भवों के क्रमशः सदाचार और अत्याचार की कहानी है, जो उत्तरपुराण पर आधारित है।”

“यहाँ यह उल्लेख्य है कि पार्श्वनाथ कोई पुराणपुरुष ही नहीं थे अपितु वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे।”

“मुनि पद्मकीर्ति ने ‘पासणाहचरिउ’ को 18 संधियों में विभक्त किया है। संधियाँ पुनः कड़वकों में विभक्त हैं। प्रत्येक संधि में कड़वकों की संख्या भिन्न है। पूरे ग्रन्थ में 314 कड़वक हैं। प्रायः एक कड़वक में 10-12 पंक्तियाँ हैं, पूरे ग्रन्थ में पंक्तियों की संख्या 3640 है।”

“विवेच्य ‘पासणाहचरिउ’ में महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं। ग्रन्थ का प्रारंभ 24 तीर्थकरों को नमस्कार एवं उनकी स्तुति से होता है।”

“पद्मकीर्ति ने ‘पासणाहचरिउ’ में सातवीं सन्धि तक पार्श्व के पूर्व जन्मों का वर्णन किया है, वह आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण में भी यत्किंचित् मिलता है।”

“‘पासणाहचरिउ’ का सम्पूर्ण आख्यान कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। पार्श्वनाथ अपने प्रत्येक उत्तरोत्तर जन्म में अधिकाधिक अच्छे कार्य करते हुए बताये गये हैं और फलतः ऊँचे से ऊँचे स्वर्गों में स्थान पाते हैं। इसके विपरीत कमठ अपने जन्मों में बुरे से बुरे कर्म करता है और इसी संसार में तथा नरकों में अनेक दुःख पाता है। कर्म-

सिद्धान्त का यह अत्यन्त सरलीकृत रूप है। कवि ने पदे-पदे शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफल को व्याख्यायित किया है।”

“ ‘पासणाहचरित’ का प्रधान रस शान्त है। 11-12वीं सन्धियों को छोड़कर शेष में मुनि की शांत तपस्या, मुनि तथा श्रावकों के शुद्ध चरित्रों का विस्तृत वर्णन है। अनेक स्थलों में कवि ने संसार की अनित्यता तथा जीवन की क्षण-भंगुरता दिखलाकर वैराग्य उत्पन्न किया है।”

“ ‘पासणाहचरित’ में वीर रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। 11वीं सन्धि पूर्ण वीर रस में है, वहाँ भाषा भी ओजयुक्त बनी है।”

“ ‘पासणाहचरित’ में अलंकारों का बाहुल्य है। उपमा तो यत्र-तत्र-सर्वत्र है। मालोपमा विशेष है। काव्य-सौन्दर्य में अनूठी उत्प्रेक्षाओं का उपयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त दृष्टान्त, व्यतिरेक, सन्देह, अर्थान्तर, न्यास, तुल्ययोगिता, ब्याजस्तुति आदि अलंकार भी मिलते हैं। ‘पार्श्व’ के कैवल्य की प्राप्ति पर कवि ने संख्यात्मक क्रम से सुन्दर चित्रण किया है।”

“अपभ्रंश को हिन्दी के आदिकाल के साहित्य का आधार माना जाता है। अपभ्रंश काल में ‘कड़वक’ और ‘दोहे’ में अभिव्यंजित ग्रन्थों ने आवश्यकता, मूल्यांकन और साहित्यिक गवेषणा से वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है। इसी परम्परा में महनीय कृति ‘पाहुडदोहा’ एक लघुकाव्यिक मुक्तक रचना है, जिसके रचयिता मुनिश्री रामसिंह हैं। इसका सम्पादन डॉ. हीरालाल जैन ने किया है। इस कृति में कुल दो सौ बाईस दोहे हैं।”

“मुनि रामसिंह कृत अपभ्रंश की कृति पाहुडदोहा अध्यात्म और रहस्यवाद की स्वानुभव-प्रधान अद्भुत रचना है।”

“राजस्थान निवासी मुनिश्री रामसिंह का ग्रन्थ ‘पाहुडदोहा’ उपदेशप्रधान है, अतः उपदेशात्मक वाणी में जीवन की सरल, सरस अनुभूति का समन्वय कर मुनिश्री ने इसे गूढ़ और सुन्दर बना दिया है। छन्द भी ऐसा छोटा चुना है कि जिसमें थोड़े शब्दों में बहुत कहने की शक्ति समाविष्ट है। छन्द की दृष्टि से इस कृति का मूल्यांकन करते हैं तो कल्पना हो जाती है कि किस प्रकार इस दोहा छंद में काव्यकार ने अपने गम्भीर विचारों को मानवीय दुर्बलताओं पर पूर्णतया विचार कर उपदेश के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है।”

“पाहुडदोहा का वर्ण्य विषय है - आत्मा और आत्मानुभवा इसके लिए दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं - प्रथम - अपने ज्ञानस्वभाव का ज्ञान और निर्णय कर ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेना और दूसरा - शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक स्व-परिणति को परमात्म तत्त्व में विलीन करना।”

“ ‘पाहुडदोहा’ विशुद्ध अध्यात्मपरक एवं रहस्यवादी रचना है। इसमें धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड का विरोध ओजस्वी स्वरों में किया है। आराधना हेतु मात्र जिनेन्द्रदेव को आराध्य माना है।”

“मुनिश्री रामसिंह ने धर्म की शास्त्रीय रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के प्रतिकूल जीवनमुक्ति तथा कैवल्य का असाधारण उपदेश दिया है। मुनिश्री ने इस रचना में आत्मानुभूति और सदाचरण के बिना कर्मकाण्ड की निस्सारता का प्रतिपादन किया है। सच्चा सुख इन्द्रिय-निग्रह व आत्मध्यान में विद्यमान है।”

“मुनिश्री की मान्यता है कि तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मंदिर-निर्माणादि की अपेक्षा देह-स्थित देव का दर्शन करना चाहिये। आत्मा इसी देह में स्थित है किन्तु देह से भिन्न है और उसी का ज्ञान परमावश्यक है।”

“ धार्मिक क्रियाओं में अहिंसा की स्थापना हेतु मुनिश्री रामसिंह ने वनस्पति एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा का प्रभावी प्रतिपादन किया। पत्ती, पानी, दाभ, तिल आदि को अपने समान प्राणवान समझो। भगवान की पूजा के लिए पत्ते मत तोड़ो। मुनिश्री ने पत्ती, फूल, फल, तिल आदि सचित्त द्रव्य से पूजा करने का निषेध किया है।”

“केवल आत्मदर्शन ही वास्तविक परमार्थ है। अन्य सभी व्यवहार है। योगीजन इस एक पदार्थ को ही ध्याते हैं। आत्मा को छोड़कर जो अन्य का ध्यान करता है वह मूर्ख है। उसको केवलज्ञान कैसे हो सकता है? उत्तम आत्मा को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान मत कर। जिसने मरकत मणि पहचान ली है उसे कांच से क्या प्रयोजन? संसार से उदासीन होकर जिसका मन अपने में स्थित हो गया है वह जैसा भाव करता है वैसी ही प्रवृत्ति करता है। वह निर्भय है, उसके संसार भी नहीं है। जिनके सर्व विकल्प छूट गये हैं और जो चैतन्यभाव में स्थित हैं वे ही निर्मल ध्यान में स्थित कहे गये हैं। हे जोगी! देह से भिन्न निज शुद्धात्मा का ध्यान करो, उससे निर्वाण की प्राप्ति होगी। चित्त को निश्चल कर आत्मा का ध्यान करने से अष्ट कर्म नाश कर सिद्ध होते हैं।”

“ ‘पाहुडदोहा’ में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। अनेक उपमाओं, रूपकों और हृदयस्पर्शी दृष्टान्तों द्वारा मुनिश्री ने अपने भावों को अभिव्यक्त किया है।

दोहों में वाग्धाराओं के अभिदर्शन होते हैं। अलंकारों पर मुनिश्री का अपना प्रादेशिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है।”

“मुनिश्री रामसिंह जैन रहस्यवादी काव्यकार हैं, उनका ‘पाहुडदोहा’ आदिकाल की अनेक ग्रन्थियों को सुलझाने में अपनी महती भूमिका अदा करता है।”

“‘पाहुडदोहा’ की गाथा 212 में कवि ने अपना नाम ‘मुनि रामसिंह’ के रूप में घोषित किया है।”

“मुनि रामसिंह के समय की निम्नतम सीमा सातवीं शताब्दी तथा अधिकतम सीमा नौवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।”

“भाषा शैली के आधार पर हम मुनिश्री को दसवीं शताब्दी के आस-पास का मान सकते हैं।”

“अन्तिम कुछ पद्यों को छोड़कर शेष दोहारूप में हैं। इस प्रकार यह दूहा काव्य है और अपभ्रंश भाषा की श्रेष्ठ रचना है।”

“मात्रा छन्दों के विकास में अपभ्रंश काल में तुकांत प्रवृत्ति का प्रभाव यह हुआ कि अनेक लोक-गीतों की धुनें एवं लोक-नृत्यों की तालें भी यहाँ विविध छन्दों के उदय की मूलभूता बन गईं।”

“भाषा के विकास-क्रम में हिन्दी भाषा का सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश के साथ है। इसी से उसका साहित्य अपने प्रारंभ काल में न केवल उन्हीं प्रवृत्तियों से पूर्णतः प्रभावित है प्रत्युत काव्य-रूप एवं छन्द-योजना की दृष्टि से भी अपने परवर्ती रूप में बहुत दूर तक उसी का अनुवर्तक है। अतः अपभ्रंश की इस महत्वपूर्ण कड़ी को भुलाकर हिन्दी के विकास की परिकल्पना नहीं की जा सकती।”

“निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अपभ्रंशकालीन छन्द-सम्पदा निश्चय ही बड़ी समृद्ध एवं पुष्ट रही है और अपने परवर्ती हिन्दी काव्य की उपजीव्य बनकर, लम्बे समय तक उसे प्रभावित करती रही है, जिसके लिए हिन्दी साहित्य उसका चिर-ऋणी रहेगा। वस्तुतः ये सभी जैन तथा जैनेतर कवि वीतरागी एवं आध्यात्मिक थे। परन्तु अपनी इस आध्यात्मिक निधि को लोक-जीवन के लिए कल्याणकारी बनाने के हिमायती थे। इसी से लोकभाषा और लोकछन्दों की गीतात्मकता और सरसता का इन्होंने प्रश्रय लिया तथा चिरंजीवी साहित्य का सृजन किया जो शताब्दियों के बाद आज भी किसी न किसी प्रकार लोक-जीवन की अक्षय निधि बना है। निस्संदेह ये सभी सच्चे अर्थों में

कलमजीवी, कलाजीवी और पर-हितार्थजीवी होने से 'कविमनीषी परिभूस्वयंभू' कहलाने के अधिकारी पात्र थे।”

“सिरीपाल मयणसुंदरीचरिय (सिद्धचक्र कथा) नामक पाण्डुलिपि दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान में संगृहीत पाण्डुलिपि में से एक है। इसकी वेष्टन संख्या 1282 है। इसमें राजा श्रीपाल एवं उनकी रानी मैनासुन्दरी की कथा एवं उनके माध्यम से सिद्धचक्र पूजा के माहात्म्य का वर्णन है। अपभ्रंश भाषा में रचित इस कथा के रचनाकार 'पंडित णरसेण' हैं। यह कथा 96 पृष्ठों (पत्र 42) में निबद्ध है।”

“कालावली की जयमाल' अपभ्रंश भाषा में रचित एक लघु रचना है। इसमें जैन दर्शन में मान्य काल (समय) के परिणमन की अवधारणा का संक्षेप में वर्णन किया गया है।”

“यह रचना दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित 'जैन विद्या संस्थान' के पाण्डुलिपि भण्डार में संगृहीत गुटका संख्या 55, वेष्टन संख्या 253 में पृष्ठ संख्या 6 से 9 पर लिपिबद्ध है। 'काल' अर्थात् 'समय', जिसके निमित्त या सहयोग से वस्तुओं का परिवर्तन ज्ञात होता है। संसार में घटित प्रत्येक क्रिया-कलाप, घटना काल/समय के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त होती है, प्रकट होती है। काल वस्तुओं, द्रव्यों के परिणमन, परिवर्तन में एक उदासीन सहायक है, निमित्त है।”

अपभ्रंश साहित्य अकादमी अपभ्रंश भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए विविध उपक्रमों के साथ प्रयासरत है। अपभ्रंश भाषा की पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि, सम्पादन-अर्थ आदि करवाकर उन्हें प्रकाशित करना भी उनमें एक प्रमुख उपक्रम है। इस क्रम में विगत अंकों की भाँति इस अंक में 'सिरिपाल मयणसुन्दरी चरिय' के एक अंश की प्रतिलिपि का प्रकाशन किया गया है। साथ ही, अपभ्रंश भाषा की ही एक लघु रचना 'कालावली की जयमाल' का अर्थ-सहित प्रकाशन किया गया है।

इस अंक के प्रकाशन में अपने लेख भेजकर सहयोग प्रदान करनेवाले लेखकों के प्रति आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी सम्पादक व कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह है।

— डॉ. कमलचंद सोगाणी

पउमकित्ति विरचित : 'पासणाह चरिउ' (अपभ्रंश भाषा का प्रमुख महाकाव्य)

– डॉ. प्रेमचन्द्र रावका

अपने जन्म से 'वाराणसी' को पावन एवं प्रथित बनानेवाले 23वें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ के प्रति अतिशय श्रद्धा और 24वें तीर्थकर भगवान महावीर के पूर्ववर्ती-निकटवर्ती तीर्थकर होने से उनके (तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ के) प्रभावी-प्रेरक पूर्वभवों का वर्णन एवं जीवनवृत्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों को विशेष प्रिय रहा है। उनके पूर्व व वर्तमान भवों से सम्बन्धित 15 से भी अधिक चरित काव्य उपलब्ध होते हैं। 'जिन रत्नकोश' के अनुसार तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ के नाम से रचे गये पुराणों की संख्या 11 है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रथम पार्श्व-चरित 'सिरि पासनाह चरित' देवभद्र सूरि ने लिखा है। तत्पश्चात् हेमचन्द्राचार्य का 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित' है। दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य गुणभद्र का श. सं. 827 का 'उत्तरपुराण' परवर्ती कवियों के लिए आधारभूत ग्रन्थ रहा है। जिनसेन द्वितीय का 'पार्श्वभ्युदय' सं. 840 में रचा मेघदूत की समस्या पूर्ति में 334 मदाक्रान्ता छन्दों में निबद्ध सन्देश काव्य है। पुष्पदन्त कृत महापुराण में 'पार्श्वचरित' भी है। वादिराज सूरि का श.सं. 947 (वि.सं. 1042) में रचा गया 'पार्श्वनाथ चरित' प्रथम स्वतंत्र महाकाव्य है। सं. 1189 का श्रीधर का 'पासणाह चरिउ', सं. 1276 में रचित माणिक्यचन्द्र सूरि का

‘पार्श्वनाथ चरित्र’, सं. 1312 का भावदेव का ‘पार्श्वनाथ चरित्र’, भट्टारक सकलकीर्ति सं. 1470 का ‘पार्श्वपुराण’, पं. रङ्गू का ‘पासणाह चरित’, सं. 1515 का तेजपाल का ‘पार्श्वनाथ चरित्र’, सं. 1640 का वादिचन्द्र का ‘पार्श्वपुराण’, भट्टारक चन्द्रकीर्ति का सं. 1654 का ‘पार्श्वपुराण’, सं. 1697 का कल्याणकीर्ति का ‘पार्श्वनाथ रासो’, सं. 1787 का भूधरदास का ‘पार्श्वपुराण’ उल्लेखनीय चरित काव्य हैं।

इसी शृंखला में श. सं. 999 (वि. सं. 1134) में पउमकिति विरचित ‘पासणाह चरित’ अपभ्रंश भाषा का विश्रुत पार्श्वचरित काव्य है जिसमें पार्श्वनाथ के पूर्वभव मरुभूति और कमठ के भवों के क्रमशः सदाचार और अत्याचार की कहानी है, जो उत्तर पुराण पर आधारित है।

इन विभिन्न ग्रन्थों में पार्श्वनाथ का जो जीवन वर्णित है उसके अनुसार भगवान महावीर के जन्म से 350 वर्ष पूर्व वाराणसी के राजा के पुत्र के रूप में पार्श्व का जन्म हुआ। तीस वर्ष की आयु तक वे अपने माता-पिता के पास रहे, फिर प्रसंगवश संसार से उदासीन हो दीक्षा ग्रहण की। कठोर तपस्यानन्तर अपने उपदेशों से जनकल्याण किया। 100 वर्ष की आयु पूर्ण कर सम्मेदशिखर पर भौतिक शरीर का परित्याग किया।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि पार्श्वनाथ कोई पुराण पुरुष ही नहीं थे, अपितु वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। देशी-विदेशी सभी इतिहासों ने इसकी पुष्टि की है कि महावीर के पूर्व भी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय वर्तमान था जिसके प्रधान पार्श्वनाथ थे। चातुर्याम धर्म का उपदेश उन्होंने ही दिया। बौद्ध साहित्य में महावीर व उनके शिष्यों को चातुर्याम मुक्त कहा है। आचारांग सूत्रानुसार महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

प्रस्तुत लेख में ‘पउमकिति’ के ‘पासणाह चरित’ पर प्रासंगिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है -

‘पउमकिति’ या पद्मकीर्ति इस प्रसिद्ध अपभ्रंश कृति ‘पासणाह चरित’ के रचयिता हैं। ‘पासणाह चरित’ की प्रत्येक संधि के अन्तिम कडवक के घत्ता में, चतुर्थ संधि के अंत में ‘पउम भणइ’ तथा 5वीं, 14वीं और 18वीं संधियों के अन्तिम घत्ता छन्दों में ‘पउमकिति’ शब्द के प्रयोग से यह निश्चित है कि यह ‘पउम’ नाम ग्रन्थकार का है। 14वीं व 18वीं संधियों में ‘पउम’ के साथ उल्लिखित ‘मुणि’ शब्द से ग्रन्थकार का मुनि होना प्रकट होता है -

“पउमकित्ति मुणिपुंगवहो, देउ जिणेसरु विमलमइ॥”

अतः कवि का पूर्ण नाम ‘मुनि पद्मकीर्ति’ है।

‘पासणाह चरिउ’ के अन्तिम कडवक में कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का जो उल्लेख किया है उसके अनुसार ये सेन संघ के माधवसेन-जिनसेन के शिष्य थे। इन्होंने अपने माता-पिता का कहीं उल्लेख नहीं किया है। सामान्यतः जैन मुनि गृहस्थ जीवन से विरक्त होते हैं अतः वे उन आचार्यों का स्मरण करते हैं जो उन्हें भवसागर से पार उतरने का मार्ग दिखाते हैं। कवि की गुरु-परम्परा में समस्त आचार्य सेन संघ के थे। सेन संघ दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध संघ रहा है। इसी संघ में धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य तथा आदिपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य जैसे रत्न उत्पन्न हुए हैं। अतः पद्मकीर्ति दाक्षिणात्य थे।

‘पासणाह चरिउ’ की अन्तिम प्रशस्ति¹ जिसमें इसका रचनाकाल श.सं. 999 (वि.सं. 1134 कार्तिकी अमावस्या) दिया है, में कवि के व्यक्तित्व पर यत्किंचित प्रकाश पड़ता है - ‘पउम कवि ने पार्श्वपुराण की रचना की, पृथ्वी पर भ्रमण किया और जिनालयों के दर्शन किये। अब उसे जीवन-मरण के सम्बन्ध में कोई सुख-दुःख नहीं। श्रावक कुल में जन्म, जिन-चरणों में भक्ति तथा कवित्व - ये तीनों, हे जिनवर ‘पद्म’ को जन्मान्तरों में प्राप्त हों।’

मुनि पद्मकीर्ति ने ‘पासणाह चरिउ’ को 18 संधियों में विभक्त किया है। संधियाँ पुनः कडवकों में विभक्त हैं। प्रत्येक संधि में कडवकों की संख्या भिन्न है। 14वीं संधि में सर्वाधिक कडवक हैं। पूरे ग्रन्थ में 314 कडवक हैं। प्रायः एक कडवक में 10-12 पंक्तियाँ हैं, पूरे ग्रन्थ में पंक्तियों की संख्या 3640 है।

कवि के अनुसार यह काव्य पूरा प्रामाणिक है। ऋषियों द्वारा जो भी तत्त्व निर्धारित किया गया है, वह सब इस ग्रन्थ में अर्थभरे शब्दों में निबद्ध है। जो ऋषियों ने पार्श्वपुराण में कहा है, जो गणधरों, मुनियों और तपस्वियों ने बताया है तथा काव्य-कर्ताओं ने निर्दिष्ट किया है, वह मैंने इस ग्रन्थ में प्रकट किया है। जिससे तप व संयम का विरोध होता हो वह मैंने नहीं किया। जिससे सम्यक्त्व दूषित होता हो उस आगम से भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि विपरीत सम्यक्त्व

1. ‘पासणाह चरिउ’ की पाण्डुलिपि आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर (वर्तमान जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी) में उपलब्ध है। लिपिकाल सम्वत् 1473 है।

सहित मनोहर काव्य भी मिथ्यात्व और असुखकर होते हैं। श्री जिनसेन, जिनके चित्त में जिनवर विराजते थे, उन्हीं के निमित्त इस कथा को रचा। पूर्व स्नेह के कारण पद्मकीर्ति इनका शिष्य हुआ -

घत्ता- सिरि गुरुदेव पसाए, कहिउ असेसु वि चरिउ मइ।
‘पउमकित्ति’ मुणिपुंगवहो, देउ जिणेसरु विमलमइ॥

विवेच्य ‘पासणाह चरिउ’ में महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं। ग्रन्थ का प्रारंभ 24 तीर्थंकरों को नमस्कार एवं उनकी स्तुति से होता है -

चउवीस वि जिणवर सामिय सिवपुर गामिय पणविवि अणुदिण भावे।
पुणु कह भुवण पयासहो पयडमि पासहो जणहो मज्झि सब्भावे॥

- शिवपुर को प्राप्त करनेवाले चौबीस जिणवर स्वामियों को प्रतिदिन भावपूर्वक प्रणाम करके भुवन को प्रकाशित करनेवाले पार्श्वनाथ भगवान की कथा को जन-समुदाय के मध्य सद्भावपूर्वक प्रकट करता हूँ।

चउवीस वि णरसुर वंदिय, जगि अहिणंदिय भवियहं मंगल होंतु।
भवि भवि बोहि जिणेसर जगपरमेसर अविचलु अम्हइं दिंतु॥

- चौबीस तीर्थंकर मनुष्य और देवों द्वारा वंदित हैं, और जग में अभिनन्दित हैं। वे जगत के परमेश्वर जिनेश्वर देव भव्यजनों के मंगलरूप हैं। वे भव-भव में हमें निश्चल बोधि प्रदान करें।

कवि की विनयोक्ति है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यह कथा जग के लिए आकर्षक, त्रिभुवन में श्रेष्ठ नर-सुरों से पूजित, गुणों की निधि है। इसका दुर्लभ यश यावत महीतल-सागरपर्यन्त त्रिभुवन में प्रसारित होता रहे।

काव्य-रचना की प्रेरणा में कवि का कथन है कि जिन-भक्ति ही काव्य-शक्ति है। कुशल कवियों द्वारा इस लोक में अनेक लक्षणों से युक्त काव्य रचे गये हैं। तो क्या उससे शंकित होकर अन्य साधारण कवियों को अपने भाव काव्य द्वारा प्रकट नहीं करना चाहिये?

काव्य कथानक - पद्मकीर्ति ने ‘पासणाह चरिउ’ में 7वीं सन्धि तक पार्श्व के पूर्व जन्मों का वर्णन किया है, वह आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण में भी यत्किंचित मिलता है -

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पोदनपुर नगर का शासक अरविन्द था। प्रभावती उसकी रानी थी। उसी नगरी में वेद-शास्त्रज्ञ विश्वभूति नामक ब्राह्मण राजपुरोहित था। अनुद्धरि उसकी पत्नी थी। इनके कमठ और मरुभूति दो पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र कमठ चंचल स्वभावी था। कनिष्ठ पुत्र मरुभूति महानुभाव था। ये दोनों क्रमशः विष और अमृत से बनाये गये थे। कमठ की पत्नी 'वरुणा' शीला-शुद्धाचारिणी थी; जबकि मरुभूति की पत्नी वसुंधरी विपरीत आचरणवाली थी। विश्वभूति के पश्चात् राजा ने मरुभूति को नीतिज्ञ और सदाचारी मानकर राजपुरोहित बना दिया। एकबार मरुभूति को राजा के साथ विदेश जाना पड़ा। इसकी अनुपस्थिति में कमठ ने सारी मर्यादाओं को ताक में रखकर छोटे भाई की पत्नी वसुंधरा से प्रेम करना शुरू कर दिया। जिसे वरुणा ने देख लिया, उसने अपने देवर मरुभूति को विदेश से लौटने पर यह बता दिया। पहले तो मरुभूति ने इस पर विश्वास नहीं किया; पर दूसरे दिन अर्द्धरात्रि को अपने ही शयनकक्ष में इनकी प्रेम-लीला अपनी आँखों से देखी और राजा से शिकायत की। उसने कमठ को देश-निकाला दे दिया। कुछ दिनों बाद मरुभूति में भ्रातृत्व भाव जागा और कमठ से राजा के मना करने पर भी मिलने गया। कई दिनों भूखे-प्यासे मरुभूति ने कमठ को जंगल में तापसी वेश में देखा, क्षमा माँगी पर कमठ ने क्रोधावेश में मरुभूति को पत्थरों से मार डाला। मरुभूति मरकर हाथी बना, कमठ सर्प बना। वरुणा हथिनी बनी। इसके बाद नवें भव तक मरुभूमि का जीव अपने सत्कर्मों से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ जन्म-चक्रायुध, कनकप्रभ आदि राजकुमार एवं इन्द्र बनकर दसवें भव में राजा हयसेन के यहाँ पार्श्वनाथ बना और पापी कमठ अपने दुष्कर्मों से सर्पादि योनियों एवं अनेक नरकों में यातनाएँ भोगता हुआ अन्त में मेघमालीभट तापसी बना। परन्तु कुकृत्य नहीं छोड़ पाया।

प्रत्येक जन्म में मरुभूति के जीव को कमठ के (जीव के) द्वेष का शिकार होना पड़ा है। कमठ का जीव अपने दुष्कर्मों से नरक एवं तिर्यच योनियों में आकर प्रत्येक भव में पार्श्व के प्रति हिंसा का ताण्डव नृत्य करता है। उत्तरपुराण में कमठ और मरुभूति के बीच बैर-बंध के कारण को केवल एक श्लोक में ही दिया है; जबकि 'पासणाह चरिउ' में बैर-बंध के कारण को पापाचार की एक पूरी कथा में परिणत कर कवि ने अपनी कल्पना एवं मौलिकता का परिचय दिया है।

ग्रन्थकारों ने कमठ के जीव के जन्मों में विशेष परिवर्तन नहीं किये हैं। उसके जन्मों का जो क्रम उत्तरपुराण में दिया है वही उत्तरकालीन ग्रन्थों में मिलता

है। यदि कुछ भेद भी है तो वह उसके दसवें भव में मिलता है, जब मरुभूति का जीव पार्श्व के रूप में जन्म लेता है। उत्तरपुराण के अनुसार 10वें भव में कमठ का जीव एक राजा महीपाल के रूप में उत्पन्न हुआ, जो पत्नी के वियोग से दुःखी होकर तपस्वी बना। जबकि पासणाह चरिउ के अनुसार 9वें भव के पश्चात् कमठ का जीव चार बार तिर्यग्योनि में और चार बार नरक में उत्पन्न होने के बाद केवट के रूप में और फिर एक ब्राह्मण के कुल में जन्म लेता है। यही ब्राह्मण दरिद्रता से दुःखी होकर कमठ नामक तापसी बनता है। इसी के आश्रम को देखने पार्श्व वन में जाते हैं। दिगम्बर परम्परा में पार्श्व के पूर्व भवों के वर्णन की शैली उत्तरपुराण में निश्चित की जा चुकी थी; उसे ही पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में और वादिराज सूरि ने अपने पार्श्वनाथ चरित्र में अपनाया। पद्मकीर्ति ने भी पासणाह चरिउ उसी परम्परा में लिखा। पार्श्व के वर्तमान जीवन की झाँकी इसप्रकार है -

वाराणसी नगरी के राजा हयसेन और रानी वामा देवी के यहाँ पार्श्व का जन्म हुआ। अन्य तीर्थकरों के सदृश इनके भी कल्याणक सम्पन्न हुए। जब पार्श्व 31 वर्ष के थे तब हयसेन की राजसभा में कुशस्थल (कन्नौज) के राजा शक्र वर्मा (श्वसुर) का दूत आकर उनकी दीक्षा के समाचार देता है। फिर रविकीर्ति पर यवनराज के आक्रमण के समाचार सुनकर राजा हयसेन उसकी रक्षार्थ जाने को उद्यत होते हैं; परन्तु राजकुमार पार्श्व उन्हें रोककर स्वयं जाते हैं और यवनराज पर विजय पाते हैं। प्रसन्न होकर रविकीर्ति अपनी कन्या से पार्श्व के विवाह का प्रस्ताव रखते हैं, जिसे पार्श्व स्वीकार करते हैं। एक दिन नगर निवासियों के साथ पार्श्व भी कुशस्थली के पास वन में तापसी के पास जाते हैं; जहाँ वे कमठ को अग्नि में उस लकड़ी को डालने से रोकते हैं जिसमें सर्प का जोड़ा होता है; परन्तु कमठ नहीं मानता। उसके प्रहारों से वह सर्प-जोड़ा घायल हो जाता है। पार्श्व उस घायल नाग-युगल को पंच नमस्कार मंत्र सुनाते हैं। घायल नाग-युगल की मृत्यु हो जाती है। पार्श्व के पंच नमस्कार मंत्र सुनाने से वे नाग-नागिन स्वर्ग में धरणेन्द्र और पद्मावती बनते हैं। उधर सर्प की मृत्यु व जगत की असारता को देख पार्श्व को वैराग्य हो जाता है। वे दीक्षा लेते हैं। पार्श्व भी वन में कायोत्सर्ग-तपसाधना में लीन रहते हैं। कमठ तापसी मरकर असुरेन्द्र बनता है, वह मेघमाली भट के रूप में आकर पार्श्व पर वज्राघात, भयंकर तूफान, शस्त्रों के प्रहार, मेघों की वृष्टि द्वारा उनका ध्यान भग्न करना चाहता है; पर वह असफल होता है। पार्श्व अपने अविचलित शुक्लध्यान से कैवल्य को प्राप्त करते हैं। इससे पूर्व नागराज पद्मावती

आकर उनकी रक्षा करते हैं। अन्त में कमठ सर्वत्र इन्द्र के वज्राघात से त्रस्त हो त्राण के लिए पार्श्व की ही शरण में जाता है। उनसे क्षमा-याचना करता है। पार्श्व अपना शेष जीवन धर्मोपदेश द्वारा जन-जन का कल्याण करते हुए सम्मेदशिखर से 100 वर्ष की आयु में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

उत्तरपुराण में पार्श्व के माता-पिता के नाम ब्राह्मी और विश्वसेन हैं। पासणाह चरिउ में हयसेन व वामादेवी हैं। यहाँ इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वरूप रखा, अन्यत्र वामादेवी को गर्भावस्था में स्वप्न में पार्श्व में सर्प देखने से 'पार्श्वनाथ' रखा गया। पार्श्व के विवाह का प्रसंग अन्यत्र नहीं मिलता। पद्मकीर्ति ने तापसी के साथ हुई घटना तथा सर्प की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्य का कारण माना है। यद्यपि उत्तरपुराण में इस घटना का उल्लेख अवश्य है; पर वह वैराग्य का कारण नहीं। उत्तरपुराण के अनुसार इस समय पार्श्व की आयु 16 वर्ष की थी; जबकि वैराग्य 30 वर्ष की आयु में हुआ जब अयोध्या से आये दूत के मुख से ऋषभदेव का वर्णन सुनने से पार्श्व को जाति-स्मरण हुआ।

पुष्पदन्त और वादिराज ने कमठ की घटना का वर्णन तो किया है, पर उसे वैराग्य का कारण नहीं माना। यह एक साम्य है कि सर्वत्र दीक्षा के समय आयु 30 वर्ष है। माघ शुक्ला 11 को दीक्षा लेने के बाद पार्श्व के ध्यानमग्न हो जाने के बाद कमठ द्वारा पार्श्व को ध्यान से विचलित करने के लिए किये गये प्रयत्नों का वर्णन पद्म ने किया है। उत्तर पुराण व अन्य ग्रन्थों में विघ्नहर्ता शंकर हैं। पद्म ने 'मेघमालिन' नाम दिया है। पार्श्व पर किये गये अत्याचारों के प्रसंगों में धरणेन्द्र नाम के नाग का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में हुआ। उत्तरपुराण आदि में इसे नाग का ही जीव माना है, जिसे कमठ ने अपने प्रहारों से मरणासन्न कर दिया था और जिसके कान में पार्श्व ने गमोकारमंत्र उच्चारित किया था; जिसके कारण वह देव योनि पा सका। यही धरणेन्द्र पार्श्व की रक्षा करता हुआ सभी ग्रन्थों में बताया गया है। निर्वाणस्थली सम्मेदशिखर तथा 100 वर्ष की आयु में मोक्ष पर सब एकमत हैं।

'पासणाह चरिउ' का सम्पूर्ण आख्यान कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। पार्श्वनाथ अपने प्रत्येक उत्तरोत्तर जन्म में अधिकाधिक अच्छे कार्य करते हुए बताये गये हैं और फलतः ऊँचे से ऊँचे स्वर्गों में स्थान पाते हैं। इसके विपरीत कमठ अपने जन्मों में बुरे से बुरे कर्म करता है और इसी संसार में तथा नरकों

में अनेक दुःख पाता है। कर्म सिद्धान्त का यह अत्यन्त सरलीकृत रूप है। कवि ने पदे-पदे शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफल को व्याख्यायित किया है।

सुहु असुहु जीउ अणुहवइ लेवि, णाणाविह पोग्गल सयहं लेवि।

अजरामरु जीउ अणाइ कालु, संबहु भमइ बहु कम्म जालु।।2.16।।

- जीव अपने कर्मानुसार उनका फल भोगता है। शुभाशुभ फल भोगकर नानाविध पुद्गलों को स्वयं ग्रहणकर यह अजर-अमर जीव अनादिकाल से कर्मजाल में पड़कर बहुत भटक रहा है।

सर्प की मृत्यु व जग की असारता पर पार्श्वकुमार का वैराग्यपरक चिन्तन इसप्रकार व्यक्त किया गया है-

तिण्ण-लग्गु बिन्दु सम-सरिसु जीउ, अणुहवइ कम्म जं जेण कीउ।

गजकण्ण चवल सम-सरिस लच्छि, जहि जहि जि जाइ तहि तहि अलच्छि।।12।।

- यह जीवन तृण पर स्थित जलबिन्दु के समान है। जो कर्म जिसने किया है, वह उसे भोगता है। यह लक्ष्मी गज के कर्णों के समान चंचल है। यह जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ अशुभ करती है। जहाँ शरीर में व्याधियों का वृक्ष वर्तमान है वहाँ जीवित रहते हुए पुरुष को कौन-सा सुख हो सकता है! यही सर्प पूर्वाह्न में जीवित दिखाई दिया था, पर अपराह्न में इसके जीवन की समाधि हो गई! जबतक मेरी मृत्यु नहीं होती और जबतक इस देह का विघटन नहीं होता तबतक मैं कलिकाल के क्रोधादि दोषों का त्याग कर महान तप करूँगा।

18वीं संधि में चारों गतियों का वर्णन एवं कर्मों का फल प्रभावी बना है।

जो मनुष्य मायावी है, शील व्रतों से रहित है, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को ठगते हैं तथा हितकर आचरण नहीं करते हैं वे पशुओं की योनि में उत्पन्न होते हैं। जो लोभ, मोह और धन में फँसे हैं और ऋषियों, गुरुओं और देवों की निन्दा करनेवाले हैं, वे नर, स्थावर और जंगम जीवों में तथा तिर्यचों में जाते हैं। जो सुपात्रों को दान देते हैं, जिनका सरल स्वभाव है, निष्कपटी हैं, पर-धन की इच्छा नहीं करते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं, जिनकी कषायें हल्की होती हैं, वे भोगभूमि या मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं।

मायावंत सील-वय-वज्जिय, पर-वंचण रय अप्पुण कज्जिय।
सहिउ अयारहि णाहि लइज्जहिं, पसवह योणिहि ते उपज्जहि।।

जे लोइ मोह धणगीढ रिसि गुरु देवहं णिंदयइ।
ते थावर जंगम जीवहि फुडउ तिरिक्खहि जाहि णर।।41।।

‘पासणाह चरिउ’ में जैन आचार-विचार एवं सिद्धान्त संबंधी अनेक तत्त्व मिलते हैं। सम्यक्त्व का स्वरूप, श्रावक एवं मुनि धर्म, कर्म सिद्धान्त, विश्व के स्वरूप का विकास आदि। सामाजिक व्यवस्थाओं का स्वरूप कम ही चित्रित हुआ है। उस समाज में शकुनों पर अत्यन्त विश्वास था। पार्श्व के (अपने मामा की सहायतार्थ) युद्ध हेतु प्रस्थान करते समय नाना शकुन मिलते हैं। कवि का कथन है कि ये शकुन फल देने में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि की अपेक्षा अधिक समर्थ हैं -

तं करइ वारु णक्खतु ण वि जोग दिवायर चंद बलु।
जं पंथि पयट्टहा माणुसहो करहि असेस वि सउण फलु।।10-15।।

ये शकुन (गज, वृषभ, सिंह, कपोत, कोयल की कूक, सारस, हंस का स्वर, स्वर्ण, कमल, पानी, ईख, शुभ्र वस्त्र, केश, प्रज्वलित अग्नि, तन्दुल, कुमारियाँ, माला, कुम्भ कलश) राह चलते मनुष्य को जो फल देते हैं दिन, नक्षत्र, ग्रह, योग, सूर्य या चन्द्रमा का बल वह फल नहीं देता।

शकुनों के साथ उस समाज में ज्योतिष शास्त्र में भी अटूट श्रद्धा थी। विवाह के प्रसंग में वर-वधू की कुंडलियों तथा शुद्ध वार, तिथि आदि का विचार आवश्यक था। इस विषय में ‘पउम कवि’ ने विस्तार से विवेचन किया है, जिससे उनके ज्योतिषज्ञ होने का प्रमाण मिलता है। (13-6.7) रवि कीर्ति की कन्या प्रभावती का पार्श्व के साथ विवाह प्रस्ताव पर ज्योतिषी का मत है - अनुराधा, स्वाति, तीनों उत्तरा, रेवती, मूल, मृगशिरा, मघा, रोहिणी, हस्त, इन नक्षत्रों में विवाह कहा गया है। पाणिग्रहण किसी मठ या विशाल मन्दिर में पुण्योत्सव पर किये जायें। इन नक्षत्रों में गुरु, बुद्ध, शुक्र इष्ट हैं। शेष वार दोषयुक्त हैं। वर और कन्या की आयु की गणना कर तथा त्रिकोण और षष्ठाष्टक दोनों को त्याग कर तुला, मिथुन और कन्या राशियों में उत्तम विवाह होता है। यदि समस्त गुणों से युक्त लग्न किसी भी प्रकार से न मिल रहा हो तो गोधूलि बेला में विवाह दोषहीन होता है।

प्रकृति वर्णन - मैं सूर्यास्त, संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय व ऋतु वर्णन उल्लेखनीय हैं। 'पासणाह चरिउ' में पद्मकीर्ति ने सूर्यास्त-संध्यागम में मानवीय गतिविधि को देखा है। सूर्य को कवि ने मानवी रूप में उपस्थित कर उसके द्वारा उसकी तीन अवस्थाओं का वर्णन करा कर उससे मानव को प्रतिबोधित किया है - सूर्य का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य की तीन अवस्थाएँ - उदय, उत्कर्ष एवं अस्त होती हैं। उदय के समय देवता भी उसे प्रणाम करते हैं, उत्कर्ष के समय वह संसार के ऊपर छाकर उसका भला करता है, पर जब उसके अस्त का समय आता है तब सहोदर भी उसकी सहायता को नहीं आते। जो साथ थे वे भी छोड़ देते हैं। अतः मनुष्य को अस्त के समय दुःखी नहीं होना चाहिये। सूर्य का जो वर्ण उदय काल में था, वही अस्त होते समय था। सही है जो उच्च कुल में उत्पन्न होते हैं वे सम्पत्ति-विपत्ति में समान रूप से रहते हैं।

अहवा महंत जे कुल पसूय ते आणय विहिहि सरिस रूप॥

सूर्य अस्त होते समय आकाश में विशाल किरण-समूह से रहित हुआ। सच है - जो अपने अंग से उत्पन्न हुए हैं वे भी विपत्ति में सहायक नहीं होते -

अंगुम्भवाहि अहवइ मुझंति, आवइहि सहिन्नो णाहि हुंतो॥

अस्त होता सूर्य कहता है - लोगो, मोह मत करो। मैं रहस्य बताता हूँ - मैं सकल संसार को प्रकाशित करता हूँ। तम के तिमिर पटल का छेदन करता हूँ। सुर-असुर मुझे प्रतिदिन नमस्कार करते हैं तो भी मुझमें तीन अवस्थाएँ हैं - मेरा उदय, उत्कर्ष और अवसान होता है। यह अध्रुव की परम्परा है। तब अन्य लोगों की बात ही क्या? कवि का कथन है - दिनकर को अस्त होने का सोच नहीं, वह तो मनुष्यों को व देवों को ज्ञान देता है, स्वयं आपदाग्रस्त होते हुए भी दूसरों का उपकार करना, यही महान् कवियों का स्वभाव है। (10.8.8)

संध्या वर्णन में कवि ने एक रूपक बाँधा है - संध्या नायिका है, सूर्य नायक प्रेमी। (यह) सूर्य नायक नायिका के प्रति अनुरक्त होते हुए भी तबतक नायिका के पास नहीं जाता जबतक कि वह अपना कार्य पूर्ण नहीं कर लेता। सच है, जो महान व्यक्ति होते हैं वे अपना कार्य सम्पन्न करके ही घर-परिवार में (महिलाओं में) अनुरक्त होते हैं।

अहवा महंत जे णर सलज्ज, ते रमहि महिलसु समत्त कज्ज॥10.9.5॥

कवि ने पाँचवीं संधि में स्त्री-पुरुषों के विविध लक्षणों को बतलाया है। जिनमें दया-धर्म होता है वे ही मित्र हैं, ऐसे ही व्यक्ति विद्वानों की संगति करते हैं, वे ही माता-पिता की सेवा करते हैं।

‘पासणाह चरिउ’ का प्रधान रस शान्त है। 11-12वीं सन्धियों को छोड़ शेष में मुनि की शांत तपस्या, मुनि तथा श्रावकों के शुद्ध चरित्रों का विस्तृत वर्णन है। अनेक स्थलों में कवि ने संसार की अनित्यता तथा जीवन की क्षण-भंगुरता दिखलाकर वैराग्य उत्पन्न किया है। अन्तिम चार संधियों में पार्श्वनाथ की पावन जीवनचर्या एवं ज्ञानमय उपदेशों से केवल शान्तरस की ही निष्पत्ति हुई है। पार्श्व की तपस्या में -

सम सत्तु-मित्तु सम रोस-तोसु, कंचण-मणि पेक्खइ धूलि सरिसु।

सम सरिसउ पेक्खइ दुक्खु-सोक्खु, वंदिउ णरवर पर गणइ मोक्खु।।10.3।।

- उनके लिए शत्रु-मित्र, रोष-तोष समान थे। वे सुवर्ण और मणियों को धूलि-समान समझते थे। सुख-दुख को समानरूप से देखते। नरश्रेष्ठ उनकी वन्दना करते, पर वे मोक्ष पर ध्यान रखते थे।

‘पासणाह चरिउ’ में वीर रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। 11वीं सन्धि पूर्ण वीर रस में है, वहाँ भाषा भी ओजयुक्त बनी है। बालक पार्श्व को जब हयसेन युद्ध में जाने से रोकते हैं तो बालक पार्श्व का पौरुष प्रदीप्त हो उठता है - क्या बालक का पौरुष और यश नहीं होता? क्या बाल अग्नि दहन नहीं करती? क्या बालसर्प लोगों को नहीं काटता? क्या बाल-भानु अन्धकार का नाश नहीं करता?

‘पासणाह चरिउ’ में अलंकारों का बाहुल्य है। उपमा तो यत्र-तत्र सर्वत्र है। मालोपमा विशेष है। काव्य-सौन्दर्य में अनूठी उत्प्रेक्षाओं का उपयोग हुआ है। नभतल में जब असुरेन्द्र का विमान रुक जाता है तो उसके विषय में कवि ने 17 संभावनाएँ व्यक्त की हैं - मानो वह रथ पिशाच हो जो विद्या से स्थगित हो गया है, मानो वह पुद्गल हो जो जीव के उड़जाने से स्थगित हो गया हो। इसी प्रकार जब मेघजाल गगन में बढ़ने लगता है तो कवि 16 कल्पनाओं का वर्णन करता है। मानो दुश्चरित्र व्यक्तियों का अपयश बढ़ रहा हो, मानो खल व्यक्तियों के हृदय में कालुष्य बढ़ रहा हो, आदि। इनके अतिरिक्त दृष्टान्त, व्यतिरेक, संदेह, अर्थान्तर न्यास, तुल्ययोगिता, व्याज स्तुति आदि अलंकार भी मिलते हैं। ‘पार्श्व’ के कैवल्य की प्राप्ति पर कवि ने संख्यात्मक क्रम से सुन्दर चित्रण किया है - (14.30)

चैत्र कृष्णा चतुर्थी को 'पार्श्व' को उनकी अविचलित ध्यानाराधना से शुक्ल ध्यान से जो कैवल्य की प्राप्ति हुई उसमें - एक मिथ्यादर्शन को छोड़नेवाले, दो प्रकार से आर्त्त-रौद्र ध्यानों को त्यागनेवाले, तीन दण्डों को निशक्त करनेवाले, चार कर्मों को दहन करनेवाले, पाँच रिपुओं के नाशक, षट्त्रसों के त्यागी, सप्तभयों के जेता, अष्ट कर्मों के परिहारक, नौ प्रकार से ब्रह्मचारी, दस धर्मों के पालक, ग्यारह अंगों के चिंतक, बारह तप के धारी, तेरह प्रकार के संयमी, चौदह गुणस्थानों के आरोही, पन्द्रह प्रमादों के परिहारक, सोलह कषायों के विजेता, सत्रह प्रकार के संयमारूढ़ी, अठारह दोषों से बचनेवाले पार्श्व को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई जो मानव मन को आनन्ददायक और लोकालोक-प्रकाशक था।

कवि पद्यकीर्ति का यह पार्श्वचरित पाठक और श्रोता दोनों के ही इहलौकिक और पारलौकिक सुख एवं अभ्युदय का कारक है। कवि की कामना है - वही कृतार्थ है, वही धन्य है जिसने इस चलायमान संसार-चक्र का त्याग किया -

स कियत्थु धण्णु पर सो जि एक्कु, जे मेल्लिउ चल संसार-चक्कु।।

हे जिनेश्वर, जग के स्वामी! धन, धान्य या राज्य में कुछ नहीं मांगते। हे जग में श्रेष्ठ भट्टारक! हमें ऐसी बुद्धि दें कि हम आपके चरणों में लगे रहें -

धण कण रज्जु जिणेस जग परमेसर आयहं किंपि ण मग्गहं।

एहिबुद्धि जग-सारा देहि भडारा इह पइ तुह ओलग्गहं।।।।।

22, श्रीजी नगर, दुर्गापुरा

जयपुर-302018



मुनिश्री रामसिंह का 'पाहुडदोहा'

- प्रोफेसर (डॉ.) आदित्य प्रचण्डिया, डी.लिट.



अपभ्रंश को हिन्दी के आदिकाल के साहित्य का आधार माना जाता है। अपभ्रंशकाल में 'कड़वक' और 'दोहे' में अभिव्यंजित ग्रन्थों ने आवश्यकता, मूल्यांकन और साहित्यिक गवेषणा से वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है। इसी परम्परा में महनीय कृति 'पाहुडदोहा' एक लघुकाव्यिक मुक्तक रचना है, जिसके रचयिता मुनिश्री रामसिंह हैं। इसका सम्पादन डॉ. हीरालाल जैन ने किया है। इस कृति में कुल दो सौ बाईस दोहे हैं। 'पाहुड' शब्द का अर्थ जैनाचार्यों ने विशेष विषय के प्रतिपादक ग्रन्थ के अर्थ में किया है। 'पाहुड' शब्द संस्कृत शब्द 'प्राभृत' का रूपान्तर माना गया है, जिसका अर्थ है - 'उपहार'। अतः 'पाहुडदोहा' का अर्थ 'दोहों का उपहार'¹ समझा जा सकता है। इस कृति के साथ 'दोहा' शब्द तो छन्द का बोधक ही है। प्राकृत से लेकर अद्यतन 'दोहा' छन्द की परम्परा चली आ रही है। अनेक उल्लेखनीय कवियों ने अपने उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए इस सारपूर्ण छन्द को अपनाया है। मुनिश्री रामसिंह इसी परम्परा के विदग्ध जैन मनीषी काव्यकार थे। मुनिश्री एक भावुक तथा उग्र अध्यात्मवादी थे। रूढ़ियों के मुनिश्री कटु आलोचक थे। कभी-कभी उनका स्वर सिद्ध कवियों से भी मिलने लगता है। अतः भाषा-शैली के आधार पर हम मुनिश्री को दसवीं शती के आसपास का मान सकते हैं।²

मुनिश्री रामसिंह ने धर्म की शास्त्रीय रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के प्रतिकूल जीवन-मुक्ति तथा कैवल्य का असाधारण उपदेश दिया है। उद्देश्य में व्यापकता और विचारों में सहिष्णुता होने के कारण मुनिश्री की पारिभाषिक पदावली और काव्य शैली भी सहज-सामान्य और लोक-प्रचलित हो गई है।³ 'दोहापाहुड' अध्यात्म चिन्तन के कारण आध्यात्मिक काव्य है। मुनिश्री ने इस रचना में आत्मानुभूति और सदाचरण के बिना कर्मकाण्ड की निस्सारता का प्रतिपादन किया है। सच्चा सुख इन्द्रियनिग्रह व आत्मध्यान में विद्यमान है।⁴ मोक्षमार्ग प्राप्त्यर्थ विषय-परित्याग परमावश्यक है। मुनिश्री ने गुरु की महत्ता प्रतिपादित की है।⁵ 'पाहुडदोहा' में क्रमबद्धरूप से विषय-विवेचन नहीं मिलता है।⁶ मुनि रामसिंह गुरु को साधनापथ का मार्गदर्शन कराने के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। गुरु, सूर्य, चन्द्र, दीपक, देव सब कुछ हैं क्योंकि वह आत्मा और पर के भेद को प्रकट करता है, गुरु द्वारा बोध प्राप्त हुए बिना लोभ-भ्रम में पड़े रहते हैं। योग्य गुरु मन के द्वैतभाव को नष्ट कर देता है तथा मन की व्याधि को शान्त कर देता है। मुनिश्री का मानना है कि आत्मसुख श्रेष्ठ है। विषयों का भोग करते हुए भी जो निर्लिप्त रहते हैं, वे शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं। विषय सुखों में लिप्त रहनेवाले नरकगामी होते हैं। मन की शुद्धि और निश्चलता से परलोक प्राप्त होता है।

आत्मा और देह की बात करते हुए मुनिश्री कहते हैं कि वर्णादिभेद देह के हैं। आत्मा अजरामर, ज्ञानमय है। आत्मा को जान लेने पर और कुछ जानने को नहीं रहता, वह परमात्मा, अनन्त और त्रिभुवन का स्वामी है। मन के परमेश्वर से मिल जाने की दशा को मुनि ने 'समरस दशा' नाम दिया है। जिसप्रकार लवण पानी में विलीन हो जाता है उसीप्रकार चित्त परमात्मा में विलीन होकर समरस हो जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि समरस्य भाव उस युग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। सभी साधनमार्ग इस शब्द का व्यवहार करते हैं। उनके अलग-अलग तत्त्ववाद हैं। उन्हीं से इन व्याख्याओं का पोषण होता है पर परिणाम में व्यवहारतः सब एक हैं।⁷ मुनिश्री रामसिंह लिखते हैं - 'मन जब परमात्मा से साक्षात्कार कर लेता है और परमात्मा का जब मन से मिलन हो जाता है तो दोनों का सामंजस्य या समरसी भाव हो जाता है।'⁸ अतः ऐसी स्थिति में साधक

को पूजा-उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। फिर पूज्य, पूजक या उपास्य और उपासक का सम्बन्ध समाप्तप्रायः हो जाता है। दोनों अभिन्न हो जाते हैं तो कौन किसकी पूजा करे? यही तो रहस्यवाद की अंतिम अवस्था है।

मन की चंचल वृत्ति मिट जाने पर योगियों को सर्वत्र आत्मा दिखने लगती है। मन सब व्यापारों से मुक्त हो जाता है। मन के व्यापार टूट-छूट जाने पर राग-द्वेष भाव भग्न हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा-परमपद में मिल जाता है, इसको मुनिश्री ने निर्वाण कहा है। यही शून्य स्वभाव है, पाप-पुण्य सबसे आत्मा मुक्त हो जाता है। विषयों का त्याग, कर्मों का क्षय एवं विषयोन्मुख मन को निरंजन आत्मा में लगाना ही मोक्ष का कारण है। इन्द्रिय-सुख निरत व्यक्ति को शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है। देह में बसनेवाले देव को जान लेने पर सब विषय छूट जाते हैं और सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। शुभ-अशुभ सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं और जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाती है। विषयों की अनेक स्थलों पर तीव्र निंदा की गई है। शास्त्र, तीर्थ, मूर्तिपूजा की भी निंदा मुनिश्री ने की है। मुक्ति को स्त्री, मन को प्रियतम, देह को महिला, आत्मा को प्रिय जैसी कल्पनाओं में साधना के प्रेममय मधुर रूप की झलक देखी जा सकती है। 'पाहुडदोहा' के छन्दों में अनेक बार एक ही विषय की पुनरावृत्ति हुई है।

मुनिश्री रामसिंह की मान्यता है कि तीर्थ यात्रा, मूर्तिपूजा, मंदिर-निर्माणादि की अपेक्षा देह-स्थित देव का दर्शन करना चाहिए। आत्मा इसी देह में स्थित है किन्तु देह से भिन्न है और उसी का ज्ञान परमावश्यक है -

हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णा हि पवेसु।

संतु णिरंजणु तहि वसइ णिम्लु होइ गवेसु॥११॥

अर्थात् यह साढ़े तीन हाथ का छोटा-सा शरीररूपी मंदिर है। मूर्ख लोग इसमें प्रवेश नहीं कर सकते। इसी में निरंजन वास करता है। निर्मल होकर उसे खोजिए।

जब आत्मज्ञान हो गया तो देहानुराग कैसा? जिसने आत्मज्ञानरूपी माणिक्य को पा लिया वह संसार के जंजाल से पृथक् हो आत्मानुभूति में रमण करता है -

जइ लद्धउ माणिककडउ जोइय पुहवि भमंत।
बंधिज्जइ णिय कप्पडइं जोइज्जइ एककंत॥216॥

विषयों का त्याग किए बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकती। अतः विषय-त्याग आवश्यक है। विषयों से पराङ्मुख होकर जो आत्मा का ध्यान करते हैं उन्हें असाधारण सुख मिलता है। विषय-त्यागी ही परमसुख पाता है। विषय सब क्षणिक हैं। इन्द्रिय सुख और मोक्षमार्ग भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। एकसाथ दोनों पर चलना असम्भव है, एक ही को चुनना पड़ेगा -

वे पंथेहि ण गम्मइ वे मुह सूई ण सिज्जए कंथा।
विण्णि ण हुंति आयाणा इंदिय सोक्खं च मोक्खं च॥213॥

अर्थात् दो मार्गों पर नहीं जा सकता, दो मुखवाली सुई से कंथा नहीं सिया जा सकता। अरे अज्ञानी! इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों साथ-साथ नहीं प्राप्त हो सकते। बाह्य कर्म-कलाप से यदि आन्तरिक शुद्धि न हो तो उसे भी व्यर्थ ही समझिए। यदि कर्म-कलाप से आत्मानुभूति न हो तो वह किस काम का?

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुसइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगगहणु करेइ॥15॥

अर्थात् साँप केंचुली को छोड़ देता है, विष को नहीं छोड़ता। इसीप्रकार विषय-भोगों के परित्याग से यदि विषयवासना और भोग-भाव नहीं छूटता तो अनेक वेष और चिह्नों को धारण करने से क्या लाभ? -

मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु निं कियउ संसारहं खंडणुतिं कियउ॥135॥

कबीर के निम्न दोहे से उक्त छन्द की तुलना द्रष्टव्य है -

दाढ़ी मूँछ मुंडाय के, हूआ घोटम घोट।
मन को क्यों नहीं मूँडिये, जामे भरिया खोट॥

कवि सब कर्म-साधनों को व्यर्थ समझता है यदि वे आत्मदर्शन न करा सकें। वह ज्ञान भी व्यर्थ है जिससे आत्मज्ञान नहीं होता। कवि अहिंसा और दया को ही सबसे बड़ा धर्म समझता है। दसविध धर्म का सार अहिंसा ही है -

दह विहु जिणवर भासियउ धम्म अहिंसा सारु॥201॥

मुनिश्री रामसिंह के 'पाहुडदोहा' और योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' एवं 'योगसार' में अनेक दोहे आंशिक या पूर्णरूपेण मिलते-जुलते हैं। ऐसे चौबीस दोहे हैं जो मुनिश्री रामसिंह और जोइंदु के ग्रन्थों के समानरूप से दृष्टिगत हैं। वस्तुतः काव्यकार मुनिश्री रामसिंह ने गुरुभाव को महत्ता देते हुए कर्मकाण्ड का कट्टरता से खंडन किया है। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मंत्र-तंत्र आदि सबको व्यर्थ बताते हुए आत्मशुद्धि पर बल दिया है।

इस प्रकार दोहों के उपहार के रूप में हम 'पाहुडदोहा' से जीवन-मुक्ति का उपहार भी प्राप्त कर सकते हैं। राजस्थान निवासी मुनिश्री रामसिंह का ग्रन्थ 'पाहुडदोहा' उपदेशप्रधान है, अतः उपदेशात्मक वाणी में जीवन की सरल, सरस अनुभूति का समन्वय कर मुनिश्री ने इसे गूढ़ और सुन्दर बना दिया है। छंद भी ऐसा छोटा चुना है कि जिसमें थोड़े शब्दों में बहुत कहने की शक्ति समाविष्ट है। छंद की दृष्टि से इस कृति का मूल्यांकन करते हैं तो कल्पना हो जाती है कि किसप्रकार इस दोहे छंद में काव्यकार ने अपने गम्भीर विचारों को मानवीय दुर्बलताओं पर पूर्णतया विचार कर उपदेश के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मुनिश्री का भाव कभी भी अपने भाषा ज्ञान या पाण्डित्य प्रदर्शन का नहीं रहा। 'पाहुडदोहा' की भाषा पुरानी हिन्दी के निकट लगती है। भाषा समास-प्रधान एवं जटिल नहीं है। अवहट्ट की भाँति टकार प्रधान है। मुनिश्री की भाषा सांकेतिक है और सांकेतिक में इनकी समानता बौद्ध सिद्धों के चर्या-पदों और दोहाकोश से की जा सकती है।⁹ 'पाहुडदोहा' में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है।¹⁰ अनेक उपमाओं, रूपकों और हृदयस्पर्शी दृष्टान्तों द्वारा मुनिश्री ने अपने भावों को अभिव्यक्त किया है। दोहों में वाग्धाराओं के अभिदर्शन होते हैं। अलंकारों पर मुनिश्री का अपना प्रादेशिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। उन्हें अपना प्रदेश प्रिय है। चंचल मन की उपमा मुनिश्री ने 'करहा' से की है। 'करहा' शब्द का अर्थ होता है - 'ऊँट'। ऊँट

चलने में अत्यंत चंचल होता है। इसीलिए मन की चंचलता का मानदण्ड 'करहा' शब्द से यही है। काव्यकार ने उपमाओं और रूपकों का प्रयोग प्रचुरता से किया है। यथा - पाँच इन्द्रियों को पाँच बैल, आत्मा को नन्दनकानन, देह को देवालय या कुटी, आत्मा को शिव, इन्द्रिय वृत्तियों को शक्ति इत्यादि। अपने को स्त्री, आत्मा को प्रिय मान उसको प्राप्त करने और उसमें एकाकार हो जाने की भावना दर्शनीय है। समाज की रूढ़ियों का खण्डन और मानवता के धरातल पर खड़े होकर समरसता, चित्तशुद्धि पर जोर, बाह्याचार का विरोध समरसी भाव से स्वसंवेद्य आनन्द का उपभोग तथा शिवपरमपद कैवल्य की प्राप्ति आदि का प्रचार-प्रसार काव्यकार मुनिश्री रामसिंह के 'पाहुडदोहा' का उद्देश्य रहा है। निर्वेद की भावनाएँ 'पाहुडदोहा' में सर्वत्र मिलती हैं। शांतरस की अनुभूति के द्वारा हम संसार के प्रति कुछ ऐसे मनोभावों की निष्पत्ति अनुभव करने लगते हैं जिनसे हृदय शांति प्राप्त करता है तथा जो इस कोलाहल से दूर कहीं एकांत में जाकर साधना करने पर ही हो सकता है। इस दृष्टि से मुनिश्री रामसिंह जैन रहस्यवादी काव्यकार ठहरते हैं और उनका 'पाहुडदोहा' आदिकाल की अनेक ग्रंथियों को सुलझाने में अपनी महती भूमिका अदा करता है।

-
1. डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, खण्ड एक, तारामण्डल, अलीगढ़, सन् 1999, पृष्ठ 64.
 2. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1965, पृष्ठ 81.
 3. डॉ. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ 265.
 4. डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, अपभ्रंश आलोक, अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद, 2008, पृष्ठ 15.
 5. डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, खण्ड एक, तारामण्डल, अलीगढ़, सन् 1999, पृष्ठ 64.
 6. डॉ. रामसिंह तोमर, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, हिन्दी परिषद् प्रकाशन प्रयाग, 1964, पृष्ठ 77.

7. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ 45.
8. मुनि रामसिंह, पाहुडदोहा, दोहांक 48.
9. डॉ. रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 83.
10. डॉ. अलका प्रचण्डिया, अपभ्रंश काव्य की लोकोक्तियों और मुहावरों का हिन्दी पर प्रभाव, तारामंडल, अलीगढ़, सन् 2001, पृष्ठ 38.

मंगलकलश
394, सर्वोदयनगर,
आगरा रोड, अलीगढ़ - 202001 (उ.प्र.)
दूरभाष : (0571) 2410486,
चलभाष : 9897144022

□ □ □

मंदमंदारमयरंनंदणवणं.....

मंदमंदारमयरंनंदणवणं

तरलदलताल-चललवलि-कयलीसुहं

विल्ल-वेइल्ल-चिरिहिल्ल-सल्लइवरं

करुणकणवीर-करमर-करीरायणं

कुसुमरयपयरपिंजरियधरणीयलं

भमियभमरउलसंछइयपंकयसरं

रुक्खरुक्खम्मि कप्पयरुसियभासिरी

कुंद-करवंद-मचकुंद चंदणघणं।

दक्ख-पउमक्ख-रुहक्खखोणीरुहं।

अंबजंबीर-जंबू-कयंबूवरं।

नाग-नारंग-नगोहनीलंबरं।

तिक्खनहचंचुकणइल्ल-खंडियफलं।

मत्तकलयंठिकलयंठमेल्लियसरं।

रइवराणत्त अवइण्णमाहवसिरी।

महाकवि वीर

जंबूसामिचरिउ, 4.16

उस नन्दनवन में मंदार की मंद मकरंद फैल रही थी; और वह कुंद, करवंद, (करौंदा?) मुचकुंद तथा चंदन वृक्षों से सघन था। वहाँ तरल पत्तोंवाले ताल, चंचल लवली और सुंदर कदली तथा द्राक्षा, पद्माक्ष एवं रुद्राक्ष के वृक्ष थे। बेल, विचिकिल्ल, चिरिहिल्ल, तथा सुंदर सल्लकी और आम, जंबीर (नींबू), जंबू, तथा उत्तम कदंब थे। कोमल कनैर, करमर, करीर (करील?), राजन (सं. राजादनी), नाग, नारंगी, व न्यग्रोध के वृक्षों से अंबर नीला (हरित) हो रहा था। कुसुमरज के प्रकर (समूह) से वहाँ का भूमिभाग पिंगलवर्ण हो गया था। शुकों के तीखे नख व चंचुओं से वहाँ के फल खंडित थे। घूमते हुए भ्रमरकुलों से पंकज-सरोवर आच्छादित था, और मत्त कलकंठियों के मधुर कंठ से स्वर छूट रहा था। रतिपति की आज्ञा से वृक्ष-वृक्ष में कल्पवृक्ष की शोभा से भास्वर माधवश्री (वसंत-शोभा) अवतीर्ण हुई।

अनु. - डॉ. विमलप्रकाश जैन

मुनि रामसिंह कृत पाहुडदोहा में अध्यात्म और रहस्यवाद : एक विवेचन

- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल



जिन-शासन नायक भगवान महावीर ने तत्कालीन जनभाषा अर्द्धमागधी में धर्मोपदेश देकर सर्वकल्याणकारी अखण्ड चैतन्य आनन्दरूप आत्मा की अनुभूति द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति के धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। महावीर के निर्वाण के पाँच सौ वर्ष पश्चात् जैन साहित्यरूप प्रथम श्रुतस्कंध का सृजन जनभाषा प्राकृत में षट्खण्डागम सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप में पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा किया गया। आचार्य गणधर ने कषाय पाहुड की रचना की। प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार आदि 84 पाहुडों की रचना प्राकृत भाषा में की जो द्वितीय श्रुतस्कंध के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये पाहुड मूलतः अध्यात्मपरक हैं और दिगम्बर जैनधर्म की मूलआम्नाय की अवधारणा को पुष्ट करते हैं। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द मूलसंघ के आद्य संरक्षक माने जाते हैं। इसके पश्चात् एक हजार वर्ष तक प्राकृत भाषा में जैन-साहित्य की बहुआयामी रचनाओं का सृजन हुआ। यह प्राकृत भाषा जैन संदर्भ में 'जैन शौरसैनी' एवं 'जैन महाराष्ट्री' के रूप में चिह्नित की गयी। इस काल में प्राकृत की सहोदरा के रूप में संस्कृत भाषा में भी विपुल जैन-साहित्य का सृजन हुआ।

प्राकृत भाषा के साहित्यिक रूप लेने पर लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश भाषा का उदय और विकास हुआ। जैन आचार्यों ने लोकभाषा के रूप में अपभ्रंश भाषा को अपनाया और अपभ्रंश में भी साहित्य का सृजन किया। यह क्रम 7वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष तक प्रवहमान रहा। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार 12वीं शताब्दी उसका मध्याह्न काल था, उस समय तक यह एक समृद्ध और प्रौढ़ साहित्यिक भाषा हो चुकी थी - यहाँ तक कि इसके स्वतंत्र व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोष की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इस भाषा को विभ्रष्ट संस्कृत, अपभ्रष्ट प्राकृत, अपभ्रंश आदि नामों से पुकारा गया। अपभ्रंश के साहित्यिक रूप लेने पर लोकभाषा के रूप में हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का उदय हुआ।

जैन आचार्य और विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा में जैन साहित्य का सृजन विपुल रूप से किया। इस भाषा के समग्र साहित्य का पिचहत्तर प्रतिशत (75%) भाग जैन साहित्य का है। महाकवि स्वयंभू ने अपभ्रंश भाषा में पउमचरिउ, रिड्डणेमि-चरिउ (अरिष्टनेमिचरित्र) आदि महाकाव्यों की रचना की। उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने सात सन्धियाँ पउमचरिउ में और जोड़ दीं। महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण नामक महाकाव्य सृजित कर अपना नाम अमर कर दिया। जैनकवि देवसेन, महेश्वरसूरि, पद्मकीर्ति, धनपाल धक्कड़, हरिषेण, नयनन्दि, धवल, वीर, श्रीचन्द आदि ने अपनी काव्यकृतियों से अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध किया। इनके उपरान्त श्रीधर कनकामर, धाहिल, यशःकीर्ति आदि कवियों ने सरस कृतियाँ प्रदान कीं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा का स्वतंत्र व्याकरण लिखा। नरसेन, सिंह, माणिक्यराज, पद्मकीर्ति और रङ्गू मध्यकाल के अपभ्रंश साहित्यसृजक हुए। इनमें रङ्गू ने लगभग 25 रचनाएँ लिखीं। अपभ्रंश में रासकाव्य रचने की विशिष्ट परम्परा रही। कविवर विनयचन्द्र, भगवतीदास, योगदेव, जिनहर्ष सूरविनय, जयविमल, ऋषभदास आदि ने अपभ्रंश रासकाव्य रचकर अपभ्रंश को अमर कर दिया। कहा (कथा) साहित्य का भी सृजन हुआ। आचार्य योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश, योगसार, आदि अध्यात्मपरक रचनाएँ अपभ्रंश में लिखीं। मुनि रामसिंह ने 'पाहुडदोहा' के

माध्यम से जैन अध्यात्म और रहस्यवाद को प्रतिपादित किया। इस आलेख की विषयवस्तु पाहुडदोहा है।*

मुनि रामसिंह - एक परिचय

पाहुडदोहा की गाथा 212 में कवि ने अपना नाम 'मुनि रामसिंह' के रूप में घोषित किया है। गाथा इसप्रकार है -

अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण।

रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण॥

अर्थ - हे जीव! एकाग्र मन से बारह भावनाओं की भावना कर। इससे मुक्ति की प्राप्ति होती है - ऐसा रामसिंह मुनि कहते हैं।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि पाहुडदोहा मुनि रामसिंह की रचना है। डॉ. हीरालाल जैन ने नाम के साथ 'सिंह' शब्द संलग्न होने से यह अनुमान किया है कि मुनि रामसिंह अर्हदबली आचार्य द्वारा स्थापित 'सिंह' संघ के थे। यह भी सम्भव है कि कवि ने अपने परम्परागत नाम का उल्लेख किया हो। इस प्रकार के नाम पंजाब में विशेषतः चलते हैं। संभव है कि कवि पंजाब से राजस्थान आ गये हों। डॉ. हीरालाल जैन के शब्दों में - "ग्रन्थ में करहा (ऊँट) की उपमा बहुत आयी है तथा भाषा में भी राजस्थानी हिन्दी के प्राचीन मुहावरे दिखाई देते हैं। इससे अनुमान होता है कि ग्रन्थकार राजपूताना प्रान्त के थे"²

कवि का समय

मुनि रामसिंह ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयपाहुड, पवयणपाहुड, लिंग-पाहुड आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार तथा परमात्मप्रकाश एवं योगसार की भाषा-शैली के प्रकाश में पाहुडदोहा की रचना की। आचार्य अमृतचन्द्र दशवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ग्रन्थों की विशद टीका लिखी और कुन्दकुन्द का रहस्य उद्घाटित किया।

• डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित पाहुडदोहा का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से 1998 में हुआ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पंचास्तिकाय-पाहुड' की गाथा टीका 146 में पाहुडदोहा की गाथा 99 को उद्धृत किया, जो इस प्रकार है -

अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वि अम्ह दुम्मेहा।
तं णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणक्खयं कुणहि॥

अर्थ - श्रुतियों का अन्त नहीं है, समय अल्प है और हम दुर्बुद्धि हैं। इसलिये मात्र वही सीखने योग्य है जो जरा-मरण का नाश कर दे।

इसप्रकार मुनि रामसिंह आचार्य अमृतचन्द्र (दशवीं शताब्दी) के पहले हुए तभी अमृतचन्द्र अपनी टीकाओं में उनका उद्धरण देते हैं। आचार्य जयसेन ने भी उक्त गाथा को पंचास्तिकाय-पाहुड की गाथा टीका 154 में उद्धृत की है। आचार्य जयसेन का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

डॉ. ए.एन. उपाध्ये मुनि रामसिंह को जोइन्दु (छठी शती) एवं हेमचन्द्र के मध्य में हुए मानते हैं। उनके अनुसार - "रामसिंह योगीन्दु के बहुत ऋणी हैं, क्योंकि इनके ग्रन्थ का एक पंचमांश - जैसा कि प्रो. हीरालालजी कहते हैं - परमात्मप्रकाश से लिया गया है। रामसिंह रहस्यवाद के प्रेमी थे और सम्भवतः इसी से प्राचीन ग्रन्थकारों के पद्यों का उपयोग उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया है। उनके समय के बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मुनि रामसिंह जोइन्दु और हेमचन्द्र के मध्य हुए हैं। श्रुतसागर, ब्रह्मदेव, जयसेन और हेमचन्द्र ने उनके दोहापाहुड से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। दोहापाहुड और सावयधम्मदोहा में दो पद्य बिल्कुल समान हैं।"³

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री का मत इसप्रकार है - "इसप्रकार मुनि रामसिंह के समय की निम्नतम सीमा सातवीं शताब्दी तथा अधिकतम सीमा नौवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। मेरे अपने विचार में उनको नौवीं शताब्दी का मान लेना चाहिए।"⁴ इसप्रकार, मुनिरामसिंह नौवीं शताब्दी के सन्त कवि हैं।

रचना का स्वरूप

पाहुडदोहा विशुद्ध अध्यात्मपरक एवं रहस्यवादी रचना है। इसमें धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड का विरोध ओजस्वी स्वरो में किया है। आराधना हेतु

मात्र जिनेन्द्रदेव को आराध्य माना है। इसमें 220 पद्य हैं। अन्तिम कुछ पद्यों को छोड़कर शेष दोहा रूप में हैं। इसप्रकार यह दूहाकाव्य है और अपभ्रंश भाषा की श्रेष्ठ रचना है। इसमें प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है। डॉ. हीरालालजी का कथन है कि “पाहुडदोहा में जोगियों का आगम अचित् और चित्, देहदेवली, शिव और शक्ति, संकल्प और विकल्प, सगुण और निर्गुण, अक्षर, बोध और विबोध, वाम-दक्षिण और मध्य, दो पथ, रवि-शशि, पवन और काल आदि ऐसे शब्द हैं और इनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनसे हमें योग और तांत्रिक ग्रन्थों का स्मरण आये बिना नहीं रहता।”⁵ इसप्रकार हिन्दी साहित्य में निर्गुणधारा की दीर्घ परम्परा जैन और बौद्ध संत-साधुओं के माध्यम से प्रवाहित हुई दिखाई देती है।

मुनि रामसिंह ने पाहुडदोहा में परमात्मप्रकाश में उपलब्ध अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा बोलचाल की होने पर भी कवि की पहचान स्पष्ट रूप से लिये हुए है। डॉ. ए.एन. उपाध्ये के मतानुसार - दोहापाहुड में अकारान्त शब्द के षष्ठी के एक-वचन में ‘हो’ और ‘हुँ’ प्रत्यय आते हैं किन्तु परमात्मप्रकाश में केवल ‘हँ’ ही पाया जाता है तथा तुहारऊ, तुहारी, दोहिं मि, देहहंमि, कहिंमि आदि रूप परमात्मप्रकाश में नहीं पाये जाते।”⁶ डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने पाहुडदोहा की भाषा की विशेषता बताते हुए लिखा - ‘मुनि रामसिंह की भाषा सशक्त, व्यंजनात्मक तथा पूर्णतः सांकेतिक है। यही विशेषता उत्तम काव्य की कही जाती है। वास्तव में उत्तम काव्य में व्यंग्य प्रधान होता है। अपने गूढ़ तथा आध्यात्मिक विचारों को स्पष्ट रूप से विभिन्न शब्द-संकेतों द्वारा अभिव्यंजित करने हेतु अभिव्यंजना का उचित आलम्बन लिया गया है। संक्षेप में, मुनि रामसिंह की भाषा काव्यात्मक विशेषताओं से युक्त है।’⁷

रहस्यवाद

भगवान महावीर की दिव्यदेशना से उद्भूत श्रुत-परम्परा की मूलधारा का अनुसरण करते हुए मुनि रामसिंह ने आत्मा की अखण्ड आत्मानुभूति को केन्द्रबिन्दु

बनाते हुए अध्यात्मप्रधान पाहुडदोहा की रचना कर पाहुड-परम्परा को पुष्ट किया। इस कृति की महत्ता डॉ. प्रेमसागर जैन ने इस प्रकार दर्शायी - “मध्यकाल के प्रसिद्ध मुनि रामसिंह का ‘पाहुडदोहा’ अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें वे सभी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं जो आगे चलकर हिन्दी के निर्गुणकाव्य की विशेषता बनीं। उनमें रहस्यवाद प्रमुख है।”⁸

उपनिषदों में ब्रह्म एक विश्वव्यापी तत्त्व माना गया है। समस्त जीवात्माएँ उस विश्वव्यापी तत्त्व का अंश हैं। उपनिषदों का ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का उत्पादक और आश्रय है। प्रत्येक जीवात्मा का विलय ब्रह्म में हो जाता है। वेदान्त में आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्मस्वरूप है। वह निर्गुण है, स्वतंत्र और सनातन तत्त्व है। वह एक और अद्वैत है। उपनिषद के अनुसार विश्व ब्रह्म है और ब्रह्म आत्मा है। उपनिषद आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन करते हैं। आत्मा की सत्ता का ब्रह्म से मिलन होना ही रहस्य का मूल है। इस ब्रह्म को ही परमब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उस परम ब्रह्म की एक सत्ता है। उपनिषद और वेदान्त एकार्थवाची हैं। इसमें आत्मा का परमब्रह्म से मिलन होना एवं उससे एकत्व की साधना अखण्ड आत्मानुभूति की साधना से होती है। इसी बिन्दु से रहस्यवाद को निश्छल भावात्मकता का प्रकाशन होता है जिसमें अंश अंशी के साथ एकात्मकता की अनुभूति करता है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के शब्दों में, “रहस्यवाद रहस्यदर्शियों का वह सांकेतिक कथन या वाद है, जिसके मूल में अखण्डानुभूति और आत्मानुभूति निहित है।”⁹ रहस्यवाद में परमब्रह्म की अनुभूति को सांकेतिक भाषा में प्रकट किया जाता है। यह आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है जिसे देश के संतों ने रहस्यात्मक अभिव्यंजना के माध्यम से रहस्यवाद को दर्शाया है। वेद, उपनिषद, बौद्ध सुत्त-निकाय, जैन अध्यात्म साहित्य एवं सिद्ध साहित्य में सच्चिदानन्द परमब्रह्म-परमेश्वर की रहस्यात्मक अभिव्यंजना अपनी-अपनी प्रचलित-रूढ़ शब्दावली में उपलब्ध है जो जीवन को आलोकित करती है। जैन साधक सन्तों की आध्यात्मिकता को दृष्टिगत कर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी जैन साधकों को रहस्यवादी स्वीकार किया है।¹⁰

रहस्यवाद की विशेषताएँ

रहस्यवाद की व्याख्या करना सरल नहीं है। रहस्यवाद स्वयं में रहस्यमय है। डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना में गूढ़वाद (रहस्यवाद) की निम्न विशेषताएँ दर्शायी हैं -

- 1) यह मन की उस अवस्था को बतलाता है जो तुरन्त निर्विकार परमात्मा का साक्षात् दर्शन कराती है। यह आत्मा और परमात्मा के बीच में पारस्परिक अनुभूति का साक्षात्कार है जो आत्मा और अन्तिम सत्य की एकता को बताता है। इसमें जीव अपनी पूर्णता और स्वतंत्रता का अनुभव करता है।
- 2) इसका अनुभव करने के लिए ऐसी आत्मा की आवश्यकता है जो अपने को ज्ञान और सुख का भण्डार समझे तथा अपने को परमात्मपद के योग्य जाने।
- 3) यदि गूढ़वाद आध्यात्मिक और धार्मिक हो तो धर्म (आत्मा) को ध्येय और ध्याता में एकत्व स्थापित करने का उपाय अवश्य बताना चाहिये।
- 4) गूढ़वाद साधारणतया संसार के सम्बन्ध में और विशेष कर सांसारिक प्रलोभनों के सम्बन्ध में स्वाभाविक उदासीनता दिखाता है।
- 5) गूढ़वाद से उस सामग्री की प्राप्ति होती है जो लौकिक ज्ञान के साधन मन और इन्द्रियों की सहायता बिना ही पूर्ण सत्य को जान लेती है।
- 6) धार्मिक गूढ़वाद में कुछ नैतिक नियम रहते हैं जो एक आस्तिक को अवश्य पालने चाहिये।
- 7) गूढ़वाद सम्बन्धी रहस्यों का उपदेश करनेवाले गुरुओं का सम्मान करना एक गूढ़वादी का कर्तव्य है।

उक्त बिन्दु रहस्यवाद के गंतव्य और उसकी प्रक्रिया आदि पर प्रकाश डालते हैं जो साधक के लिए अनुकरणीय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जैन दर्शन, जो कि वेदान्त से भिन्न है, में रहस्यवाद किस प्रकार घटित होता है और वेदान्त के रहस्यवाद से उसमें क्या

समानता या अन्तर है? जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव विश्व के प्रथम रहस्यवादी थे जिन्होंने विषय-भोगों का परित्याग कर शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीनता दर्शाते हुए आत्मानुभव/आत्मसाक्षात्कार कर आत्मलीनता द्वारा सिद्धत्व की प्राप्ति की।

श्रीमद् भागवत में (अष्टम) ऋषभभावतार का पूरा वर्णन है और उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म की उत्पत्ति भी बतलाई है।¹² “भागवतकार ने भगवान ऋषभदेव को योगी बतलाया है। यों तो कृष्ण को भी योगी माना जाता था। किन्तु कृष्ण का योग ‘युगःकर्मसु कौशलम्’ के अनुसार कर्मयोग था और भगवान ऋषभदेव का योग कर्मसंन्यास-रूप था। जैनधर्म में कर्मसंन्यास-रूप योग की ही साधना की जाती है। ऋषभदेव से लेकर महावीर-पर्यन्त सभी तीर्थंकर योगी थे। मौर्यकाल से लेकर आजतक की सभी जैन मूर्तियाँ योगी के रूप में ही प्राप्त हुई हैं।”¹³ यह स्मरणीय है कि भागवत में भगवान ऋषभदेव का वर्णन जैन पौराणिक वर्णनों के समान है। नाभिपुत्र ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इसकी पुष्टि हिन्दू पुराणों से होती है।¹⁴ प्रो. रानडे ने जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को एक भिन्न प्रकार के गूढवादी (रहस्यवादी) होना स्वीकार किया है।¹⁵

जैन रहस्यवाद : कारण परमात्मा एवं कार्य परमात्मा के द्वैत का अभाव

जैनदर्शन का मूल स्वरूप कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थों एवं आचार्य कुन्दकुन्द की पाहुड रचनाओं और उनके टीका ग्रन्थों में पाया जाता है। जैनदर्शन वस्तु स्वातंत्र एवं स्वावलम्बन पर आधारित दर्शन है। विश्व अनादि-निधन है। इसका कोई सृजक, संरक्षक और संहारक नहीं है। विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समुदाय है। ‘सद्द्रव्यलक्षणम्’ द्रव्य का लक्षण सत् अर्थात् सत्ता है। सत्ता का कभी विनाश नहीं होता। अतः द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप द्रव्य त्रिलक्षणात्मक होता है। इसका अर्थ है अपनी सत्ता बनाए रखकर उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसप्रकार विश्व स्वचालित है। वेदान्त सृष्टि का सृजक-संहारक ईश्वर को मानता है।

जैनधर्म परमात्मा/ईश्वर में विश्वास करता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है। कर्म बंधन से मुक्त आत्माएँ कार्य-परमात्मा हो जाती हैं। वैसे तो स्वभावतः सभी आत्माएँ शुद्ध और कारण-परमात्मस्वरूप हैं; किन्तु विद्यमान विकार-विभावों के कारण वे संसार में भटक रही हैं। कर्म-बंधन से मुक्त वीतरागी आत्माएँ 'कार्य परमात्मा' कहलाती हैं। वही सच्चे देव या जिनेन्द्र कहलाते हैं। वीतरागी जिनेन्द्रदेव से भिन्न कोई भी रागी-द्वेषी-मोही जीव पूज्य नहीं हैं।

षड्दर्शन समुच्चय के जैनमतम् के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं -¹⁶

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेष-विवर्जितः।

हतमोह महामल्लः केवलज्ञान-दर्शनः॥45॥

सुरासुरेन्द्र संपूज्यः सद्भूतार्थ प्रकाशकः।

कृत्स्न कर्मक्षयं कृत्वा संप्रातः परमपदम्॥46॥

अर्थ - जैनदर्शन में राग-द्वेष से रहित वीतराग, महामोह का नाश करने-वाले, केवलज्ञान और केवलदर्शन-वाले, देवेन्द्र और दानवेन्द्र से संपूजित, पदार्थों का यथावत सत्यरूप में प्रकाश करनेवाले तथा समस्त कर्मों का नाशकर परमपद मोक्ष को पानेवाले जिनेन्द्र को ही देव माना है।

अध्यात्म मार्ग में जिनेन्द्रदेव-रूप सच्चे देव की पहिचान और दृढ़ श्रद्धान आवश्यक माना गया है क्योंकि उनके स्वरूप के माध्यम से देह-देवालय में बैठे भगवान आत्मा का साक्षात्कार या अनुभव होता है। रहस्यदर्शियों को अखण्ड आनन्दानुभूति के लिए देव के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जानना अनिवार्य है। उनके ज्ञान-श्रद्धान से अज्ञान-अंधकार के विनाश की प्रक्रिया प्रारंभ होकर आत्मस्वरूप का दर्शन/श्रद्धान होता है। इसका आधार तत्त्वज्ञान है। जैनदर्शन में आत्मा की शुद्धि या विकारी से अविकारी-परमात्मा होने हेतु सप्त तत्त्वों एवं नव पदार्थों के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

सप्ततत्त्व-नव पदार्थों का स्वरूप

रहस्यवादियों के लिए आत्मानुभूति का आध्यात्मिक मार्ग दर्शानेवाली आचार्य कुन्दकुन्ददेव की अमर कृति 'समयसार' जैनदर्शन का आधार है। आचार्य अमृतचन्द्र

ने इसे जगत का अद्वितीय आगम चक्षु कहा है - 'न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति', 'इदमेकं जगच्चक्षुरक्षय' (आत्मख्याति कलश 244-245)। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं घोषित किया कि - जो आत्मा समयसार में प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर आत्मवस्तु में स्थित होता है; वह आत्मा उत्तम सुख (अतीन्द्रिय आनन्द) को प्राप्त करता है (गा. 415)। समयसार में आत्मानुभव एवं आत्मलीनता को निरूपित करने हेतु नव तत्त्वों में छिपी आत्मज्योति को प्रकाशित किया है। शुद्धात्मा के अनुभव और सम्यग्दर्शन हेतु नवतत्त्वों को भूतार्थ नय से जानना-अनुभव करना चाहिये। नवतत्त्वों को इसप्रकार दर्शाया है¹⁷ -

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।

आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥13॥

अर्थ - भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष - ये नवतत्त्व ही मोक्ष हैं।

मूलतः तत्त्व सात हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षा। पुण्य और पाप जो आस्रव के भेद हैं, इन्हें सम्मिलित कर देने पर नव पदार्थ हो जाते हैं। इन नव पदार्थों को जीव और अजीव के रूप में विभक्त किया जा सकता है। संवर आदि पर्यायें हैं।

जीव-अजीव तत्त्व - जिसमें चेतना - जानने-देखने की शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते हैं। परमार्थतः चेतना अद्वैत है लेकिन उसके सामान्य-विशेष ये दो रूप हैं। सामान्य दर्शनरूप है और विशेष ज्ञानरूप है। वास्तव में आत्मा सदैव शुद्ध चैतन्य रूप है। समयसार में मोक्षमार्ग में स्थित आत्मा का स्वरूप इसप्रकार दर्शाया¹⁸ है -

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सयारुवी।

ण वि अत्थि मज्झ किञ्चि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥38॥

अर्थ - दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं सदा एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ और अन्य द्रव्य किञ्चित्मात्र भी मेरे नहीं हैं, परमाणु मात्र भी मेरे नहीं हैं। आत्मा स्वभाव से ज्ञान स्वरूप

है, ज्ञान ही उसकी परिणति है। ज्ञान से भिन्न वह कुछ भी नहीं है। आत्मा परद्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है। वह त्रिकाली एक अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक, निष्क्रिय चिन्मात्र है। निष्क्रिय का तात्पर्य है कि आत्मा बंध-मोक्ष से परे है। शुद्ध परिणामिक (ज्ञायक) भाव ध्यान का ध्येय है। क्रोधादिक विकारी भाव आत्मा का स्वभाव नहीं किन्तु विकारी भाव है। शरीर और क्रोधादि की आत्मा से भिन्नता का ज्ञान भेद-विज्ञान से होता है। कर्मबद्ध आत्मा संसारी और कर्म-मुक्त आत्मा परमात्मा कहलाती है। भेद-विज्ञान से आत्मानुभव होता है। इसकी प्रक्रिया गूढ़ है। सभी आत्माओं का अस्तित्व स्वतंत्र होते हुए भी गुणों की अपेक्षा सब समान है।

चैतन्य से रहित पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव हैं। जीव के राग-द्वेष-मोह रूप विकारी परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्म परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। जैनदर्शन में विशिष्ट पुद्गल परमाणुओं को कर्म कहते हैं। इन कर्मों के उदय से जीव की अनेक दशाएँ दुःख-सुख, गति जाति, मान-अपमान, लिंग आदि मिलते हैं। शुद्धोपयोग रूप ध्यान की अग्नि से कर्म-कलंक भस्म होते हैं।

आस्रव-बंध, पुण्य-पाप - कषाय-युक्त आत्मा के मन-वचन-काय के परिस्पंद (क्रिया) को योग कहते हैं। योग से कर्म पुद्गल परमाणुओं का आस्रव होता है। यह दो प्रकार का है - शुभ योग और अशुभ योग। शुभपरिणामपूर्वक होनेवाला शुभ योग है, उससे पुण्यास्रव होता है और अशुभ परिणामपूर्वक होनेवाला अशुभ योग है, उससे पापास्रव होता है। पुण्य और पाप दोनों बंधन हैं। शुद्धभाव अबंध होता है। शुद्धभाव की भावना से अखण्ड आत्मानुभव होता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग से कर्मबंध होता है। आस्रवित कर्म पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के विशिष्ट संयोग को बन्ध कहते हैं। बन्ध चार प्रकार का होता है - प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। संक्षेप में रागादिक परिणाम आस्रव है और उन रागादिक परिणामों का फल बन्ध है। ये दोनों त्याज्य और हेय हैं। दुःख और आकुलता के कारण हैं।

संवर-निर्जरा-मोक्ष - कर्मों के आस्रव को रोकना संवर है। आगम की दृष्टि से गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और चारित्र से संवर और निर्जरा होती है।

अध्यात्म की दृष्टि से कर्मादि द्रव्यकर्म, क्रोधादि भाव कर्म एवं शरीरादिक नो कर्मों से भिन्न एक, अखण्ड, त्रिकाली ध्रुव, निर्विकल्प, वीतराग, ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आत्मा (परमात्मा) का अनुभव करता है। इसे आत्मानुभूति या ज्ञानानुभूति कहते हैं। आत्मानुभव से आत्म-श्रद्धान और आत्मज्ञान होता है। आत्मानुभव के काल में सर्वपरिग्रह और शुभाशुभ इच्छाएँ रुक जाती हैं। मात्र ज्ञाता-दृष्टा भाव अनुभव में आता है। यह रहस्यरूप सहज क्रिया होती है। शुद्ध भाव का आविर्भाव होता है। शुद्धोपयोग रूप आत्मस्थिरतानुसार बंधे कर्मों का झड़ना निर्जरा है। जब इच्छा-निरोध रूप तप और शुद्धोपयोग रूप आत्मध्यान से सर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब आत्मा अपने कारण स्वभाव के आश्रय से कार्य परमात्मारूप सर्वज्ञ, वीतरागी, सर्वदृष्टा, निरंजन, परमात्मा हो जाता है।

आत्मा : द्वैत से अद्वैत

आचार्य कुन्दकुन्द ने पर से पृथक् एकत्व आत्मा का परिचय कराया और कहा कि अनादिकाल से भोग-बंध की कथा सुनी और अनुभूत की किन्तु पर से पृथक् (भिन्न) और अपने से अभिन्न आत्मा की कथा कभी नहीं सुनी और न उसका अनुभव किया।¹⁹ आचार्य कुन्दकुन्द ने एकत्व-विभक्त आत्मा का परिचय उक्त सात तत्त्व/नव पदार्थों के माध्यम से कराया। संसारी अवस्था में जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य-पाप और बंध तत्त्व विकारी आत्मा के द्वैत पक्ष को दर्शाते हैं। संवर और निर्जरा आत्म-जागरूक शुद्ध आत्मा के अनुभव एवं स्थिरता सूचक अद्वैत-द्वैत की स्थिति दर्शाता है। तथा मोक्ष तत्त्व अद्वैत-परमात्मा को रेखांकित करता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन में द्वैत-अद्वैत की रहस्यात्मकता समझना, अनुभूत करना तत्त्वों/पदार्थों को भावबोधपूर्वक ग्रहण करना अनिवार्य है। वेदान्त में ब्रह्म सर्वव्यापी, एक और अद्वैत माना है। विद्या के प्रभाव से जीवात्माएँ उसी ब्रह्म में लीन हो जाती हैं और द्वैत समाप्त हो जाता है। जैनदर्शन में कर्ममुक्त अनंत आत्माएँ ब्रह्म-परमात्मस्वरूप हैं, जबकि वेदान्त में ब्रह्म एक है। इसप्रकार विवक्षा-भेद होते हुए भी वेदान्त और जैन दर्शन में अद्वैतवाद की कुछ समानता है। यह समानता कारण-परमात्मा और कार्य-परमात्मा का भेद समाप्त होने की अवस्था में अन्तरनिहित है।

जैन साधना का केन्द्रबिन्दु देह-देवालय में प्रतिष्ठित परम सत्ता स्वरूप शुद्धात्मा है। शुद्धात्मा का स्वसंवेदन शुद्धात्माभिरुचि संसार-शरीर-भोगों के प्रति उदासीनता, न्याय-नैतिक-सदाचारी जीवन और तत्त्वार्थ श्रद्धान के आलोक में होता है। इसमें गुरु-देशना (उपदेश) की प्रधानता है। पश्चात् आत्मरुचि के प्राबल्य से निर्मल एवं स्थिर मन में विशुद्ध परिणामों के विलय और शुद्ध परिणामों के आविर्भाव के समय अखण्डात्मानुभूति होती है। उस काल शुभाशुभ का विलय होकर मात्र ज्ञायक साक्षी भाव रहता है। इस प्रक्रिया को पाँच लब्धियों एवं अध्यात्म शैली में दर्शाया गया है। यह भावपूर्ण क्रिया है। इसी कारण आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि - 'भावरहित साधु यद्यपि कोटि-कोटि जन्म तक हाथों को नीचे लटका कर तथा वस्त्र का परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।'²⁰ सम्यक्त्व से ही निर्ग्रन्थ रूप प्राप्त होता है, मात्र बाह्य नग्न मुद्रा धारण करने से क्या साध्य है? जिनेन्द्र भगवान ने भावरहित नवतत्त्व को अकार्यकारी कहा है।²¹ जिनशासन में कोई वस्त्रसहित मुक्ति को प्राप्त नहीं होता भले ही वह तीर्थकर क्यों न हो।²² बहुत शास्त्र पढ़ लेने से कोई आत्मज्ञानी नहीं होता; शास्त्र अन्य हैं और ज्ञान अन्य है।²³ इसीप्रकार वनवास में कायक्लेशादि से साधु-सन्त नहीं हो जाता, किन्तु शुद्ध भाव होने पर होता है। संयम, नियम, तप तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से परम समाधि होती है। इस सामग्री सहित अखण्ड अद्वैत परम चैतन्यमय आत्मा को जो नित्य ध्याता है, उसे वास्तव में परम समाधि है।²⁴ कुन्दकुन्द के साथ परमात्मप्रकाश और पाहुड़दोहा में समाधि/परमसमाधि रूप रहस्यानुभूति के रूप में वर्णन मिलता है जो जैनदर्शन का गन्तव्य है।

पाहुड़दोहा में आध्यात्मिक रहस्यात्मक अभिव्यंजना

पाहुड़दोहा का वर्ण्य विषय है - आत्मा और आत्मानुभवा। इसके लिए दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं - प्रथम अपने आत्मस्वभाव का ज्ञान और निर्णय कर ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेना और दूसरा शुद्धात्मानुभूतिपूर्वक स्व-परिणति को परमात्म तत्त्व में विलीन करना। इस सम्बन्ध में मुनि श्री रामसिंह का निम्न कथन उल्लेखनीय है -

जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चिनु विलिज्ज।

समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज।।177।।

अर्थ - जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है, इसी प्रकार यदि चित्त आत्मा में विलीन हो जाये तो जीव समरस हो गया। समरसता ही समाधि है। समाधि में और क्या किया जाता है?

मुनिश्री ने आत्मा-परमात्मा की अद्वैत रहस्यानुभूति निम्न गाथा में व्यक्त की, जो अद्भुत है -

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स।

विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चढाउं कस्स॥50॥

अर्थ - मन परमात्मा से मिल गया और परमात्मा भी निजानुभूति परिणति के साथ मिल गया, एकमेव हो गया। दोनों ही समरस-एकरस हो गये। इसलिये मैं पूजा किसकी करूँ!

समरसी भाव व्यक्त करते हुए मुनि रामसिंह ने अपनी आत्मा को प्रेयसी और परमात्मा को प्रिय के रूप में दर्शाया जो रहस्यवादी भावना प्रकट करता है -

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।

एक्कहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु॥101॥

अर्थ - मैं (प्रेयसी) रागादि गुण सहित सगुण हूँ और प्रिय (परमात्मा) निर्गुण (निरंजन) निराकार निःसंग है। फिर एक ही अंग (प्रदेश) में दोनों साथ रहने पर भी परस्पर मिलन नहीं होता, यह महान आश्चर्य है।

रहस्यपरक भावना देखिये - किसकी समाधि करूँ? किसे पूजूँ? किसे स्पृश्य-अस्पृश्य कहकर छोड़ूँ? और किसका सम्मान करूँ? क्योंकि जहाँ देखती हूँ वहाँ अपनी ही शुद्धात्मा (परमात्मा) दिखाई देता है (गाथा 140)। आगे-पीछे, दशों दिशाओं में, जहाँ देखता हूँ वहीं वह भगवान आत्मा है। मेरी भ्रांति मिट गयी। किसी से क्या पूछना (गाथा 176) !

आगे कहते हैं - जिसने दो को मिटाकर एक कर दिया और मन की बेल को आगे नहीं बढ़ने दिया, उस गुरु की मैं शिष्या हूँ, अन्य की लालसा नहीं करती (गा. 175)। रहस्य और अध्यात्म के संकेत गाथा 100 में हैं। इसमें कहा गया

कि मेरे मन में ऐसा प्रियतम (परमात्मा) स्थित है जो संसार के विषय-भोगों से रहित, स्त्री की पहुँच के बाहर और अकुलीन है। उसके लिए ध्यानरूपी माहुर लाया गया है और इन्द्रियों के अंगों को शृंगार से सजाया है। तात्पर्य यह कि वीतराग निर्विकल्प शुद्धात्मा को राग-रंगों और इन्द्रिय के भोगों से आकृष्ट नहीं किया जा सकता। हे मूर्ख? विषय-कषाय को छोड़कर आत्मा में मन लगा और चारों गतियों का नाश कर अतुल परमपद प्राप्त कर (गाथा 199)।

पुण्य-पाप का गूढार्थ दशनिवाली गाथा द्रष्टव्य है -

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।

बलि किज्जउ तसु जोइयहि जासु ण पाउ ण पुण्णु॥193॥

अर्थ - हे जोगी! जो उजाड़ को बसाता है और बसे को उजाड़ता है, उसकी बलिहारी है; क्योंकि उसके न पाप है और न पुण्य! भाव यह है कि निर्विकल्प ध्यान में लीन साधु-सन्त अशुद्धभाव (पुण्य-पाप) की बस्ती उजाड़कर शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग परिणामों की बस्ती बसाते हैं, वे धन्य हैं।

कबीर भी इसी तरह का भाव व्यक्त करते हैं जब वे कहते हैं -

‘धुन रे धुनिया धुन धुन, तेरी धुन में पाप न पुन्र’।

प्रिय-परमात्मा के विछोह का कारण - भ्रांति/माया/मिथ्यात्व

मुनि रामसिंह ने प्रिय-परमात्मा का प्रिया आत्मा या गुरु-शिष्य के विछोह का कारण माया, भ्रम या भ्रांति माना है। उन्हीं के शब्दों में -

अप्पा दंसणणाणमउ सयलु वि अण्णु पयालु।

इम जाणेविणु जोइयउ छंडहु माया-जालु॥70॥

अर्थ - आत्मा दर्शन-ज्ञानमय है। अन्य सभी भाव पयाल की तरह सूखी घास या भूस है। इसप्रकार जानकर आत्मावलोकन करो और माया-जाल को छोड़ो। तात्पर्य यह कि राग-द्वेष-मोह विभाव भाव हैं। ज्ञान स्वभाव का आश्रय लो तभी अनुभूति होगी।

आगे मिथ्यादृष्टि की पहचान बताते हैं -

अप्पा मेल्लिवि जगतिलउ जे परदव्वि रमंति।

अण्णु कि मिच्छादिद्वियह मत्थइं सिंगइं होंति॥71॥

अर्थ - जो जग में श्रेष्ठ (निज) आत्मद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य में रमण करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। अन्य क्या मिथ्यादृष्टियों के माथे पर सींग होते हैं? विषय-भोगों की अभिलाषा में लिप्त होना मिथ्यादृष्टि/अज्ञानी की पहचान है।

वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा नहीं समझना, यही भ्रांति है। इस सम्बन्ध में मुनिश्री कहते हैं - मन की भ्रांति नहीं मिटने पर वही दिन गिनना पड़ते हैं। जिनमें मन विलय को प्राप्त नहीं होता और इसीलिये अक्षय, निरामय, परमगति आज भी उपलब्ध नहीं हुई (गाथा 170)। आगे कहते हैं - परमगति में मन फेंक कर छोड़ दे, आवागमन की बेल टूट जायेगी, इसमें भ्रांति मत कर (गा. 172)। तात्पर्य यह कि शुभाशुभ भाव छोड़कर निर्विकल्प आत्मानुभूति करा।

तत्त्वज्ञान के अभाव में जीव भावकर्मों को अपना मानता है और वस्तुस्वरूप के विपरीत श्रद्धान करता है। दोनों की भिन्नता का ज्ञान भेदविज्ञान से होता है²⁶ हे योगी! द्रव्यकर्म स्वयं अपनी योग्यता से मिलते-बिछुड़ते हैं, इसमें कोई भ्रांति नहीं है (74)।

आत्मज्ञान के लिए तत्त्व का निर्णय कर उसे धारण करना चाहिये। जैसा स्वाध्याय करते हैं, वैसा करना चाहिये। व्यर्थ भटकने से क्या लाभ? श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र से कर्म सहज नष्ट हो जाते हैं (84)। यहाँ मुनिश्री ने तत्त्वविचार और तत्त्व-निर्णय की महत्ता बताई है।

अध्यात्म साहित्य में क्रियाकाण्ड की अपेक्षा आत्मानुभव को श्रेष्ठ कहा है। सम्यक्त्व आत्मानुभूतिपूर्वक होता है। सम्यक्त्व बिना ज्ञान-चारित्र की - कपास को ओटे बिना वस्त्र बनाने - से तुलना की है। मुनिश्री कहते हैं -

मूलु छंडि जो डाल चडि कहं तह जोयाभास।

चीरु ण वुण्णइ जाइ वढ विणु उद्वियइं कपास॥110॥

अर्थ - हे मूर्ख? मूल को छोड़कर जो डाली पर चढ़ता है अर्थात् सम्यक् श्रद्धान के बिना ज्ञान-ध्यान करना चाहता है, उसके योग का अभ्यास कहाँ है?

क्योंकि कपास को ओटे बिना वस्त्र कैसे बुना जा सकता है? यहाँ मिथ्यात्व को छोड़ सम्यक्त्व धारण करने का उपदेश दिया है।

आत्मा-शुद्धात्मा का स्वरूप

आत्मा एक चैतन्य भाव है। वह पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, आकाश, काल और शरीर रूप नहीं है (गाथा 30)। वह रंग-रूपवान, दुबला-पतला, किसी वर्ण-लिंग, सबल-निर्बल, बालक-बूढ़ा और कोई भेषधारी नहीं है। (31-33)। देह का जन्म-जरा-मरण देखकर भय मत कर। आत्मा अजर, अमर, परम ब्रह्म है, उसे ही अपना स्वरूप मान (34)। कर्मोदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोहादि भाव आत्मा के नहीं है। हे जीव! ज्ञानमय आत्मा के भावों से भिन्न अन्य सभी भाव परभाव हैं। परभाव छोड़कर अपने शुद्धस्वभाव का ध्यान करो (38)। राग-रंग से रहित जो ज्ञानभाव की भावना भाता है वही संत, निरंजन, शिव है, उसी में अनुराग कर (39)। चेतन का स्वभाव ज्ञान-आनन्दमय है। ज्ञान द्वयरूप नहीं होता। त्रिलोक में एक देव जिनदेव हैं उनके ज्ञान में तीन लोक झलकते हैं। एक निजशुद्धात्मा को जानने से तीन लोक जान लिया जाता है। ज्ञान-स्वरूपी आत्मा को देह से भिन्न जाना जिसने अपनी देह में विराजित आत्मा-भगवन को परमार्थ से जान लिया वह वंदनीय हो गया (40-42)। देह देवालय में सर्व शक्तिवान देव बसता वह शिव है; वह जन्म-मृत्यु रहित, अनन्त ज्ञानमय त्रिभुवन का स्वामी है, वही निर्भ्रांत शिवदेव है। उसकी शीघ्र खोज कर (54-55)। शिव शक्तिसहित है, ऐसा ज्ञान होने पर मोह विलीन हो जाता है। ज्ञान-भाव, ज्ञान का ज्ञानमय देखना ही शुद्धात्मा की स्वसंवेद्य ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति है; उससे चित्त का अज्ञानमय संकल्प-विकल्प दग्ध होता है। परमानन्द स्वभावी नित्य, निरामय ज्ञानमय आत्मा को जानने पर अन्य कोई भाव नहीं रहता। जिसने एक जिनदेव को जान लिया उसने अनन्त देवों को जान लिया। उसका मोह (मिथ्यात्व) चला गया (56-59)। जिनके हृदय में जिनदेव निवास करते हैं उसे पाप नहीं लगता।

देह से भिन्न ज्ञानस्वरूपी आत्मा है वही तुम हो। उसका अवलोकन करो। अधिक विकल्प और कथन करने से क्या लाभ है? (गाथा 108/146)। बिना नाद के जो अक्षर उत्पन्न होता है, वह ज्ञान स्वरूप आत्मा ही है। अतः कोई

अज्ञान भाव नहीं करना चाहिये (145)। दर्शन ज्ञानमय निरंजन परमदेव आत्मा से अभिन्न है। आत्मा के स्वभाव में सच्चा मोक्षमार्ग है (80)।

शुद्धात्मा अनुभवगम्य है, इसका निरूपण निम्न दोहे में हुआ है -

एक्कु सुवेयइ अण्णु ण वेयइ, तासु चरिउ णउ जाणहि देवइं।

जो अणु हवइ सो जि परियाणइ, पुच्छंतहं समित्ति को आणइं॥166॥

अर्थ - एक परमतत्त्व को अनुभव करने, जानने पर अन्य कुछ जानना शेष नहीं रहता। ऐसे तत्त्वज्ञानी का चरित्र देव भी नहीं जानता। वास्तव में तो जो अनुभव करता है वही जानता है, ऐसी स्वानुभव की महिमा है।

स्वानुभव गूँगे के गुड़ जैसा है जो किसी प्रकार लिखा, पूछा तथा कहा नहीं जाता। यदि गुरु उपदेश देते हैं, तभी चित्त में ठहरता है (167)।

प्रियतम परमात्मा के दर्शन के लिए आत्मानुभवरूपी ज्ञानदर्पण का अवलोकन किया जाता है। जिनदर्शन का प्रयोजन निज-दर्शन है। इसी भावात्मक रहस्यवाद को दर्शाते हुए मुनिश्री रामसिंह कहते हैं कि - 'हे सखि! उस दर्पण का क्या करें, जिसमें अपना प्रतिबिम्ब न दिखाई पड़ता हो। धन्धा करनेवाला यह जगत मुझे प्रतिभासित होता है। किन्तु घर में रहते हुए भी गृहस्वामी का दर्शन नहीं होता (गाथा 123)। यहाँ सुमति सखी है और ज्ञान-परिणति रूपी सहेली के बीच रहस्यात्मक प्रश्न किया है। ध्येय और ज्ञेय की एकता से स्वसंवेदन होता है।

आत्म-साधना के सोपान-प्रक्रिया

शुद्धात्मा के अनुभव के लिए हे योगी! वैरागी, इन्द्रियों एवं रसों में अनासक्त महानुभावों को अपना मित्र बना (133)। विकल्पों को विसर्जित कर अपने स्वभाव में मन धारण करो (134)। विषय-कषायों का त्याग कर जिनवर में मन लगा। तभी सिद्धपुरी में प्रवेश मिलेगा (135)। हे जिनवर! जबतक देह-स्थित (अपने) आपको (आत्मा को) नहीं जानता तबतक आपको नमस्कार हो। फिर किसके द्वारा किसे नमस्कार हो (142)! संवर-निर्जरा करता हुआ जीव परमनिरंजन देव को नमस्कार करता है। (78)।

मन एकाग्र होकर थम जाता है तभी वह उपदेश समझता है। मन निश्चिन्त तभी होता है जब अचित्त से चित्त अलग कर लेता है (47)। मन को सहज रूप से स्वतंत्र-उन्मुक्त होने दो, जहाँ जाये जाने दो। जब मुक्ति नगरी की ओर जा रहे हो, तब हर्ष-विषाद कैसा? (49)। यह हठयोग के विरुद्ध सहज योग का प्रतिपादन है।

विषय-कषायों में जाते हुए मन को शुद्ध उपयोग में स्थिर करने से मोक्ष होगा। हे मूढ़! अन्य किसी तंत्र-मंत्र आदि से मोक्ष नहीं मिलेगा (63)। हे जीव! खाते-पीते मोक्ष मिलता तो भगवान ऋषभदेव इन्द्रिय-सुख क्यों त्यागते? (64)। अतीन्द्रिय आनन्द निर्विकल्प स्वभाव में है, इन्द्रिय सुख में नहीं।

शुभ परिणामों से धर्म (पुण्य) होता है और अशुभ परिणामों से अधर्म होता है; किन्तु दोनों को छोड़ देने पर पुनर्जन्म नहीं होता। अतः शुद्धोपयोग उपादेय है (73)। जबतक शुभाशुभ के विकल्प हैं तबतक अन्तरंग में आत्म-स्वरूप की सिद्धि स्फुरायमान नहीं होती (143)। आत्मा में पाप के परिणाम और कर्मबंध तभी तक होते हैं जबतक उपयोग में शुद्धता प्रकट कर परमनिरंजन का ज्ञान नहीं होता (79)।

साढ़े तीन हाथ के देवालय में एक बाल (परिग्रह) का (भी) प्रवेश नहीं है, उसी में सन्त निरंजन बसता है। तुम निर्मलचित्त से उसकी खोज करो। तात्पर्य यह कि सर्व परिग्रह एवं ममत्व त्याग कर शुद्धात्मा का अनुभव करो (95)। जब आत्मा अपने आप में स्थिर हो जाती है तब उसमें राग-द्वेष रूप मल नहीं लगते (91) यदि तुम चाहो तो मनरूपी ऊँट आज ही जीता जा सकता है (112)।

आत्मध्यान का महत्त्व

केवल आत्मदर्शन ही वास्तविक परमार्थ है। अन्य सभी व्यवहार है। योगीजन इस एक पदार्थ को ही ध्याते हैं। आत्मा को छोड़कर जो अन्य का ध्यान करता है वह मूर्ख है। उसको केवलज्ञान कैसे हो सकता है? (69-68)। उत्तम आत्मा को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान मत कर। जिसने मरकतमणि पहचान ली है उसे कांच से क्या प्रयोजन (72)। संसार से उदास होकर जिसका मन

अपने में स्थित हो गया है, वह जैसा भाव करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करता है। वह निर्भय है, उसके संसार भी नहीं (105)। जिनके सर्व विकल्प छूट गये हैं और जो चैतन्य भाव में स्थित है, वे ही निर्मल ध्यान में स्थित कहे गये हैं (14)। हे जोगी? तुम देह से भिन्न निज शुद्धात्मा का ध्यान करो, उससे निर्वाण की प्राप्ति होगी (130)। चित्त को निश्चल कर आत्मा का ध्यान करने से अष्ट कर्म नष्ट होकर सिद्ध होते हैं (173)।

आत्मानुभूति में बाधक-विषय कषाय

पंच इन्द्रियों के विषयों को संयमित करें। जिह्वा और पर-स्त्री गमन को रोकना ही चाहिये (44)। तुमने न तो पाँचों बैलों (इन्द्रियों) की रखवाली की और न नन्दनवन (आत्मा) में प्रवेश किया। क्या ऐसे ही संन्यासी बन गये? (45)। हे सखि? प्रियतम (चेतन) बाहर के पाँच (इन्द्रियों) के स्नेह में लगे हुए हैं, उनका आना सम्भव नहीं लगता (46)। अर्थात् पंच-इन्द्रियों के भोग में आत्मानुभूति सम्भव नहीं होती। हे मूढ़! यह देहरूपी महिला तब तक संतापित करती है, जब तक मन निरंजन आत्मा के साथ समरस नहीं होता (65)। लोभ से मोहित और विषय-सुख माननेवाले को गुरु-प्रसाद से अविचल बोध नहीं मिलता (82)। अरे मन्थरी! तू इन्द्रियों के विषयों के सुख से रागभाव मत कर (93)। विषयों की प्रवृत्ति होने के कारण जीव को नरकों के दुःख सहन करने पड़ते हैं (119)। विषय किंपाकह के फल जैसे सुन्दर किन्तु मरण करानेवाले हैं। विषय सेवन दुःखदायक और कर्म बन्ध के जनक हैं (120-121-122)। गाथा 195 से 203 तक इन्द्रियों के भोगों के दूषित परिणाम दर्शा कर मन को ज्ञानमय आत्मा के साथ जोड़ने तथा निशि-दिन आत्मा-परमात्मा का ध्यान करने का उपदेश दिया है।

जीवन मुक्त/धुरन्धर

वास्तव में जिनदेव निजदेव है। हे जोगी? जिसके हृदय में एक परमदेव निवास करता है वह जन्म-मरण-रहित परमगति प्राप्त करता है (77)। जहाँ पर मल से रहित अनादि केवलज्ञानी भगवान स्थित हैं, वहीं उनके हृदय में तीन लोक प्रतिबिम्बित होते हैं (90)। जिसने अशरीरी सिद्धात्मा का लक्ष्य बनाया,

वही निश्चित धनुर्धर है। शुद्धात्मा को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करा। जिसके जीवित रहते हुए पाँचों इन्द्रियों के साथ मन मर गया, उसे मुक्त जानना चाहिये; क्योंकि वह जीवन-मुक्त हो गया है (24)। सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने के बाद प्राप्त होता है (89)।

भावरहित वेश, तीर्थाटन एवं शुष्क-ज्ञान की निःसारता

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मज्ञान-शून्य क्रियाकाण्ड और बाह्य तपाचार की निस्सारता दर्शाते हुए प्रतिपादित किया कि उनसे परमसुख नहीं मिलता। उन्होंने आत्मानुभव को मुख्य करके बाहरी कर्मकाण्ड का निषेध किया। रहस्यवाद के आध्यात्मिक कवि मुनि रामसिंह ने भी निज-निरंजन परमात्मा को मुख्य कर बाह्य ज्ञान और तीर्थाटन की अपेक्षा चित्त की निर्मलता और आत्मज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की, जो इसप्रकार है -

हे मूँड मुड़नेवालों में श्रेष्ठ मुँडी! तुमने सिर मुँडा लिया किन्तु चित्त नहीं मुँडाया है। जिसने मन का मुण्डन किया उसके संसार का खण्डन होता है (136)। जिन्होंने मूँड मुँडाकर संयम की शिक्षा धारणकर धर्म की आशा बढ़ाई है उन्होंने केवल कुटुम्ब छोड़ा है; पराई आशा नहीं छोड़ी (154)। जो नग्नत्व पर गर्व करते हैं और व्याकुलता को नहीं समझते वे अंतरंग और बहिरंग परिग्रह में से एक का भी त्याग नहीं करते (155)। अध्यात्म में परभाव को जानना और फिर परभाव का ग्रहण नहीं करना ही त्याग माना है। मनरूपी हाथी को विन्ध्याचल (अभिमान शिखर) की ओर जाने से रोको (156)। जिसका चित्त भीतर में मैला है, उसका बाहर में तप निरर्थक है (62)।

जब तक गुरु-प्रसाद से देहस्थित देव को नहीं पहिचानते तभी तक कुतीर्थों में भ्रमण करते हैं (81)। राग-भावसहित एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करने से क्या फल मिला? बाहर तो पानी से शुद्ध कर लिया, लेकिन भीतर में शुद्ध भाव के अभाव में क्या लाभ हुआ (163)। हे मूर्ख! तुमने तीर्थाटन किया, शरीर के चमड़े को धोया, किन्तु जो मन पापरूपी मल से मैला है, उसे किस प्रकार धोयेगा (164)! तीर्थाटन से शरीर को सन्ताप होता है, आत्मा में आत्मा

का ध्यान करने से निर्वाण पद मिलता है (179)। देह-देवालय में शिव का निवास है। तुम तीर्थ और मन्दिरों में उसे खोज रहे हो, फिर भी नहीं पा सके। (180,187)।

जिससे विशेष बोध (आत्मज्ञान) उत्पन्न न हो, तीनलोक को जानने की शक्ति न मिले उस बहिर्मुखी ज्ञान से जीव अज्ञानी-बहिरात्मा रहता है। वह अशुभ परिणाम वाला है (83)। व्याख्यान करनेवाले विद्वान ने यदि आत्मा में चित्त नहीं लगाया तो उसका ज्ञान अनाजरहित घास (भूसा) संग्रह करने जैसा होगा। हे श्रेष्ठ पंडित! तुमने कण को छोड़ भूसे को कूटा है। तुम ग्रन्थ और उसके अर्थ में संतुष्ट हो, किन्तु परमार्थ (शुद्धात्मानुभव) के नहीं जानने से मूढ़ हो (86)। शब्दों को पढ़कर गर्व करनेवाले मूल भाव नहीं समझते हैं, वे वंशविहीन डोम के समान सिर धुनते हैं (87)। हे मूर्ख? बहुत पढ़ा, जिससे रटते-रटते तालू सूख गया। लेकिन उस एक अक्षर (आत्मा) को पढ़ ले जिससे शिवपुर में गमन हो सके। (98) हे मूर्ख? बहुत अक्षर (पढ़ने) से क्या लाभ, क्योंकि वे कुछ समय में क्षय को प्राप्त हो जावेंगे। जिससे मुनि अनक्षर (क्षयरहित) हो जाए, उस अक्षयता को मोक्ष कहते हैं (125)। अशुद्ध मन से शास्त्र पढ़ने से मोक्ष नहीं होता। वध करनेवाले शिकारी को भी हरिण के सामने झुकना पड़ता है। विनय (शुद्धभाव) भावपूर्वक ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है (147)। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी शास्त्र-ज्ञान को ज्ञान नहीं माना (स. सार 390)। हे मूर्ख! बहुत पढ़ने से क्या? आत्मज्ञान (ज्ञान-स्फुलिंग) की शिक्षा प्राप्त कर जिसके प्रज्वलित होने पर क्षणभर में पुण्य-पाप भस्म हो जाते हैं (88)।

धार्मिक क्रियाओं में अहिंसा की स्थापना हेतु मुनिश्री रामसिंह ने वनस्पति-एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा का प्रभावी प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि - मोह के आधीन होकर तुम सहसा पत्तियों को तड़ातड़ तोड़ रहे हो, मानो ऊँट ने ही प्रवेश किया हो। तुम नहीं जानते कि कौन तोड़ता है और कौन टूटता है (159)। पत्ती, पानी, दाभ, तिल आदि को अपने समान प्राणवान समझो। जो यदि मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हो तो एकेन्द्रिय-हिंसा को छोड़ (160)। हे जोगी? भगवान की पूजा के लिए पत्ते मत तोड़ो और फलों को भी हाथ मत लगाओ। जिस

(को चढ़ाने के) कारण तुम उनको तोड़ते हो वह शिव तो शरीर में ही विराजमान है अतः यहीं चढ़ा दे (161)। इसप्रकार मुनिश्री ने पत्ती, फल, फूल, तिल आदि सचित्त द्रव्य से पूजा का निषेध किया। कदाचित् पंचामृत अभिषेक की क्रिया उनके अनुभव में आती तो वे उसका भी निषेध करते। अहिंसा की साधना बहुत सूक्ष्म और गूढ़ है, साधक को उसका रहस्य समझना आवश्यक है। प्रत्यक्ष हिंसक साधनों से अहिंसा की उपासना करना विरोधी-प्रतिगामी कृत्य है।

मुनिश्री रामसिंह ने दोहापाहुड में कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या की है जो मननीय है, यथा -

स्वभाव - अग्नि के संस्कार से शंख की सफेदी नष्ट नहीं होती, यह निःशंक समझो। अन्य किसी से मिलकर कोई अपना गुण नहीं छोड़ता। स्वभाव सदा एकरूप रहता है (150)।

द्रव्यलिंग - जिस प्रकार साँप केंचुली छोड़ देता है, लेकिन विष नहीं छोड़ता है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव द्रव्यलिंग धारण कर भीतर में विषय-भोगों की भावना नहीं छोड़ता (16)।

मूलगुण - जो साधु मूलगुणों को खण्डित कर उत्तर गुणों से अलग हो जाता है वह डाल से चूके हुए बन्दर के समान बहुत नीचे गिर कर घायल/भग्न हो जाता है (21)।

यति - हे आत्मन्! एक अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य कोई वैरी नहीं है। जिस भाव (राग-द्वेष-मोह) के द्वारा कर्म निर्मित हुए हैं, उस पर-भाव को जो फेंक देता है, मिटा देता है, (वास्तव में) वही यति है (118)।

निर्वाण - मन का व्यापार नाश होने तथा राग-द्वेष के अभाव होने पर आत्मा के परमपद में स्थित होते ही अतीन्द्रिय ज्ञान-परमानन्दमय जो (अविचल) अवस्था है, वही निर्वाण है (205)।

योग - व्यवहार में श्वास को जीत लिया, नेत्र निश्चल हो गये, सभी व्यापार छूट जाने पर (निर्विकल्प आत्म-ज्ञान की) जो अवस्था होती है वह योग

है - इसमें कोई सन्देह नहीं (204)। योग वही है जिसमें योगी निर्मल आत्म-ज्योति का दर्शन करले। जो इन्द्रियों के वश में हैं, वे श्रावक लोग हैं (97)।

शून्य - सब द्रव्यों का अभाव शून्य नहीं है, (शून्यवाद में) यह कहा जाता है कि वह सामान्य और विशेष भावों से रहित है; किन्तु जो पाप-पुण्य से रहित निर्विकल्प स्वभावी आत्मा है, वह शून्य है (213)।

संसार - जीव का वध करने से नरकगति मिलती है और अभयदान करने से स्वर्ग मिलता है। ये दोनों ही संसार के लिए हैं। इसलिये जो रुचिकर हो उस मार्ग में लगे (106)। अशुभ-शुभ भाव संसार का कारण है। शुद्धभाव निर्बंध है। हिंसा और हिंसा में आनन्द माननेवाला हिंसानन्दी रौद्रध्यानी होता है।

पुण्य - हे सखि? परमार्थ चाहनेवाले को पुण्य-विसर्जन से क्या लाभ? लाभ तो शुद्धात्मा को प्राप्त करने में है (137)। परमार्थी के लिए पुण्य-पाप बराबर है। पुण्य से वैभव, वैभव से अभिमान तथा मान से बुद्धि-भ्रम होता है। बुद्धि-विभ्रम से पाप और पाप से नरक गति मिलती है। वह पुण्य हमें न मिले (139)।

दो मार्ग - संसार मार्ग और मोक्षमार्ग

संसार में दो मार्ग प्रसिद्ध हैं - लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक राग मार्ग है, जो संसार है। पारमार्थिक अध्यात्म प्रधान वीतराग मार्ग है, जो मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग निज आत्म स्वभाव के आश्रय (आत्मानुभूति) से प्रारंभ होता है, जो पाहुडदोहा का केन्द्रबिन्दु है। मुनि रामसिंह कहते हैं - दो रास्तों पर एकसाथ जाना नहीं होता। दो-मुखी सुई से सिलाई नहीं होती। हे अज्ञानी? इन्द्रियों का सुख और मोक्ष दोनों एकसाथ नहीं हो सकते। दोनों में से कोई एक होगा (214)। बिना लक्ष्य के इस जीव ने बीच के मार्ग को अपनाया, किन्तु फल कुछ नहीं मिला (189)। द्वैध परिणति मायाचार का सूचक है। अतः निःशंक हो, सद्गुरु के सत्संग से निज शुद्धात्म स्वभाव के साथ रहने का मार्ग अपनाओ। आत्मा ही गुरु है (115)।

मोक्षमार्ग - व्यावहारिक दृष्टिकोण

मुनि रामसिंह कहते हैं - हे जीव? इन्द्रियों के विषय और मोह को छोड़कर आत्मा-परमात्मा का निशिदिन ध्यान करने से यह कार्य होगा (203)। विशेषरूप से आत्म-साधनपूर्वक उपवास करने से संवर होता है। उपवास (आत्मा की समीपता) करने से अग्नि प्रदीप्त होती है जो देह को संतापित करती है। इन्द्रियों का घर उससे जल जाता है जो मोक्ष का कारण है (208/215)। हे जीव? तपपूर्वक जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित दशधर्मों का पालन कर, जिससे कर्मों की निर्जरा हो। उत्तम क्षमादि दशप्रकार का धर्म, जिसमें अहिंसा का सार है, उस धर्म की एकाग्र मन से भावना भाओ (209/210)। भव-भव में निर्दोष-निर्मल सम्यग्दर्शन हो, भव-मन में समाधि करूँ और भव-भव में मानसिक व्याधियों को दूर करनेवाले ऋषि मेरे गुरु हों, ऐसी भावना कर (211)। हे जीव? एकाग्र मन से अनित्यादि बारह भावनाओं की भावना कर। इससे मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा मुनि रामसिंह कहते हैं (212)। हे जोगी? जिसका तप का दामन (बन्धन) है, व्रत का नियम से साज है तथा शम-दम की जीन (पल्लेचा) है वह मनरूपी ऊँट संयमरूपी घर में उदासीन हुआ निर्वाण को प्राप्त होता है (114)। हे जोगी? जिसे शुद्धात्मानुभव रूपी हीरा मिल जाये उसे आत्मरूपी वस्त्र में बाँध कर एकान्त में अवलोकन करना चाहिये (217)। कोई ज्ञानी दयारहित धर्म का पालन नहीं करता, पानी बिलोने से क्या हाथ चिकना होता है (148)? चन्द्रमा पोषण करता है, सूर्य प्रज्वलित करता है, पवन हिलोरें लेता है, किन्तु सात राजूप्रमाण अन्धकार को भी पेल कर काल कर्मों को निगल लेता है (220)।

इनसे अपनी रक्षा करें

मुनि रामसिंह कहते हैं कि दुष्टों की संगति करने से भले लोगों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं। अग्नि के साथ लोहा भी घनों से पिटता है (149)। वाद-विवाद करने पर जिनकी भ्रांति नहीं मिटती और स्व-प्रशंसा में मग्न है, वे भ्रान्त हुए भ्रमण ही करते रहते हैं, उनसे बचें (218)।

मुनि रामसिंह कृत अपभ्रंश की कृति पाहुडदोहा अध्यात्म और रहस्यवाद की स्वानुभव-प्रधान अद्भुत रचना है। उसके माध्यम से पाठकों को स्व-शिव की अनुभूति हो, इस भावना से विराम लेता हूँ। वीर शासन जयवन्त हो।

1. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, हिन्दी की जननी - अपभ्रंश, ब्र. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 460
2. डॉ. हीरालाल जैन, पाहुडदोहा की प्रस्तावना, पृष्ठ 27-28 से उद्धृत, कारंजा, 1933
3. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना, पृष्ठ 126 से उद्धृत, 1978
4. डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पाहुडदोहा की प्रस्तावना, पृष्ठ 18 से उद्धृत
5. उक्त 2 के अनुसार पृष्ठ 17 से उद्धृत
6. उक्त 3 के अनुसार प्रस्तावना पृष्ठ 125 से उद्धृत
7. उक्त 4 के अनुसार, पृष्ठ 23 से उद्धृत
8. डॉ. प्रेमसागर जैन, जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, भूमिका, पृष्ठ 48
9. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृष्ठ 48
10. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 52
11. उक्त 3 के अनुसार, पृष्ठ 110 से उद्धृत
12. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास पूर्व-पीठिका (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ 65
13. उक्तानुसार, पृष्ठ 70
14. मार्कण्डेय पुराण, अ. 5; कूर्म पुराण अ. 41; अग्निपुराण अ. 10; वायुपुराण अ. 33; गरुड़ पुराण अ.1; ब्रह्माण्ड पुराण अ. 14; वराहपुराण अ. 74; लिंगपुराण अ. 47; विष्णु पुराण, अ. 2; और स्कन्ध पुराण, कुमार खण्ड, अ. 37; उक्तानुसार 12, पृष्ठ 65 से उद्धृत
15. प्रो. रानाडे, महाराष्ट्र का आध्यात्मिक गूढ़वाद, भूमिका पृष्ठ 9, (R.D. Ranade, *Mysticism in Maharashtra*, Preface).

16. हरिभद्र सूरि, षड्दर्शन समुच्चय, सम्पादक डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, तृतीय संस्करण, 1989, पृष्ठ 162
17. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार (ज्ञायकभाव प्रबोधनी), डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रथम संस्करण - 2006, पृष्ठ 33
18. उपरोक्तानुसार, पृष्ठ 84 (गाथा 38)
19. उपरोक्तानुसार, पृष्ठ 4 (गाथा 4)।
20. आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड-भावपाहुड गाथा-4, पं. पन्नलाल साहित्याचार्य, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ 249
21. उपरोक्तानुसार - भावपाहुड - गाथा 541 एवं 55 पृष्ठ 379/380
22. उपरोक्तानुसार - सूत्रपाहुड गाथा 23, पृष्ठ 129
23. उपरोक्तानुसार - समयसार गाथा 390, पृष्ठ 528।
24. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, गाथा 124, 123, पृष्ठ 249/250, 1984

मै. ओ.पी. मिल्स, अमलाई
शहडोल, म.प्र.
पिन - 484117

□ □ □

नयरि मणोरमभुअणपइवहो.....

दुवई - बारहजोयणाईं दीहलें नवजोयण सुविथरा।

सगु वि वीसरंति सा पेक्खिवि मोहियमाणसामरा।।1।।

नयरिमणोरमभुअणपइवहो

तिलयभूय जा जंबूदीवहो।

मंडालंकियाईं उज्जाणईं

बाहिरि अब्भंतरि निवथाणईं।

जहिं बाहिरे वाडीउ सतालउ

अब्भंतरि पुणु नच्चणसालउ।

सरपालिउ विडंगनहवणियउं

बाहिरि अब्भंतरि पुणु गणियउं।

मुणिवरमंडियकीलामहिहर

बाहिरि अब्भंतरि चेईहर।

वाविउ सुपओहरउ सुरमणिऊं

बाहिरि अब्भंतरि वररमणिउ।

सहलसुपत्तईं मंडवथाणईं

बाहिरि अब्भंतरि जणदाणईं।

बाहिरि वाहियालि हरिसंगय

अब्भंतरि वसंति नायरपय।

बाहिरि गयउलाईं रयणरुयईं

अब्भंतरि सहंति डिंभरुयईं।

घत्ता - गुणमंदिरु नयणाणंदिरु वज्जयंतु तहिं रज्जधरु।

रणसूरहो परबलु दूरहो जसु नामेण वि वहइ डरु।।2।।

महाकवि वीर, जंबूसामिचरिउ, 3.2

बारह योजन लंबी और नौ योजन विस्तृत उस नगरी को देखकर मोहित हुए मनुष्य व देव स्वर्ग को भी भूल जाते हैं। वह मनोरम नगरी भुवन के प्रदीपरूप जंबूद्वीप की तिलकभूत है। उस नगरी के बाहर अनेक वृक्षगुल्मों व लतामंडपों से अलंकृत उद्यान हैं व भीतर सर्वत्र नाना प्रासादों (मंड) से अलंकृत राजकुल हैं। वहाँ बाहर तालाबोंसहित वाटिकाएँ हैं व भीतर ताल-मंजीर इत्यादि वाद्यवादन से युक्त नृत्यशालाएँ। बाहर विडंग वृक्षों से ललित सरपाली अर्थात् सरोवर-पंक्तियाँ हैं व भीतर गणिकाएँ हैं। बाहर मुनिवरों से शोभायमान क्रीडापर्वत हैं और भीतर चैत्यगृहा बाहर स्वच्छ जलवाली अत्यन्त रमणीय वापियाँ हैं, व भीतर अतिरमणशील सुंदर रमणियाँ। बाहर (उद्यानों में) सुन्दर फलों व पत्रों से युक्त मंडपस्थान हैं तथा भीतर मनोवांछित फल देनेवाला सुपात्र दान किया जाता है। बाहर अश्वों सहित अश्व क्रीडास्थल हैं और भीतर नागरिक प्रजा रहती है। बाहर गजकुल अपने दाँतों की दीप्ति से व भीतर बालक अपने रत्नाभरणों की कांति से शोभायमान हैं।

घत्ता - वहाँ गुणों का निवास तथा नयनों को आनन्द देनेवाला वज्रदंत नाम का राजा था, जिस रणशूर के नाम से ही शत्रुबल दूर से ही भयभीत हो जाता था।

अनु. - डॉ. विमलप्रकाश जैन

अपभ्रंश साहित्य की छन्द-संपदा – विभुता और विन्यास

– डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'



काव्य मानव-मानसी की सुख-दुःखात्मक तीव्रतम भावानुभूतियों की शब्दमयी अभिव्यक्ति है। शब्द एक ओर जहाँ अर्थ की भाव-भूमि पर पाठक को ले जाते हैं, वहाँ नाद के द्वारा श्राव्य-मूर्त विधान भी करते हैं। शब्द से हमारा आशय भाषा से है; जो नाद का ही विकसित रूप है, ध्वन्यात्मक चित्र है। इसी से आंतरिक संगीत की गरिमा भी उसमें निहित है। अस्तु, काव्य एवं संगीत परस्पर मौन रहकर एक-दूसरे का आलिगन करते हैं। भावों के सौन्दर्य से यदि संगीत खिल उठता है, तो संगीत के समन्वय से भाव हृदय का संस्पर्श कर जगमगा उठते हैं। फलतः राग का विस्तार होता है और राग कविता की भाषा का प्राण है। राग का अर्थ आकर्षण है। यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्द की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक-भाव हो जाता है।¹ बस, काव्य-भाषा में इस सौजन्य-प्रादुर्भाव के लिए ही छन्दों का सृजन हुआ है। जिस प्रकार कविता में भावों का अन्तस्थ हृत्स्पंदन अधिक गंभीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है; उसी प्रकार छन्दबद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति अधिक जागृत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। मनुष्य आदिकाल से छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी तथा अन्य-ग्राह्य बनाने का प्रयत्न

करता आ रहा है। छन्द, ताल, तुक एवं स्वर संपूर्ण मनुष्य को एक करते हैं। इनके समान एकत्व-विधायिनी शक्ति दूसरी नहीं। मनुष्य को मनुष्य के प्रति संवेदनशील बनाने का सबसे प्रधान साधन छन्द है। इसी के बल पर वह अपनी आशा-आकांक्षाओं को, अनुराग-विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक प्रेषित करता आया है। वैद्यक, ज्योतिष तथा नीतिपरक अनुभवों को भी छन्द के आधार पर ही सर्वग्राह्य बनाया गया है। अस्तु, काव्य में विषयगत मनोभावों के संचार, संतुलन तथा प्रेषण के लिए छन्द की आवश्यकता है।

वस्तुतः, काव्याभिव्यक्ति के साथ छन्दों का ऐसा गठबंधन है कि उन्हें परस्पर पृथक् करके न कला-सौन्दर्य का सृजन किया जा सकता है और न सहृदय के मर्म को छूने की क्षमता को प्रेरित किया जा सकता है। निदान, विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति जितनी अलग-अलग छन्दों में ग्राह्य बन पड़ती है, उतनी एक ही छन्द में नहीं। इसीलिए, हमारे यहाँ छन्द-विधान को पृथक् शास्त्र का रूप दिया गया है, जिसके आदि आचार्य पिंगल प्रसिद्ध हैं। 'पादौ तु वेदस्य' कहकर उसे वेद के छह अंगों में से एक माना गया है²

काव्य रचना सदैव छन्दों में होती आई है। काव्य का प्रारंभ हमारे यहाँ आदिकवि वाल्मीकि की 'मां निषाद्' वाणी के प्रकृत स्फुरण से माना जाता है, जो स्वयं में छन्दमय है और इसी से करुणानुभूति की मृदुल भावना उसमें मूर्त्त हो गई है। लोकानुभूति होने से यह जितनी निष्कलुष है, उतनी ही नैसर्गिक भी। अतः काव्य में लोकानुभूति के इस प्रस्फुटन के साथ ही साथ छन्दों का प्रादुर्भाव भी निसंदेह लोक हृदय की ही सृष्टि है।

लोक-वाणी ही विविध रूपों में अपने प्रसार एवं विस्तार के साथ शिष्ट-साहित्य के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। पंडित और आचार्य उसकी स्वच्छंद बहती धारा को नियमों के कूप-जल में समाविष्ट कर अनेक काव्य रूपों का सृजन करते हैं। इस प्रकार साहित्य या काव्य को विकसित होने का तो अवसर मिलता है, किन्तु उसकी गति किंचित् अवरुद्ध हो जाती है। वह काव्यसृष्टि लोक-मानस से दूर विद्वत्-मंडली के बौद्धिक-मनोरंजन का ही विषय बनकर रह जाती है। फिर भी, लोकानुभूति का मर्म इन विविध नियमों की परिसीमा के बाहर अपनी स्वतंत्र

अभिव्यक्ति का मार्ग खोज निकालता है। फलतः लोक-धरातल पर नूतन भाषा एवं रूपों का जन्म होता है। यही साहित्य का नवीन युग होता है, जो एक ओर भावानुभूति के नये धरातल को उपस्थित करता है, तो दूसरी ओर तदनुरूप उसकी अभिव्यक्ति के लिए विविध उपादानों को जुटाता है। नयी भाषा-शैली, नये उपमान, नये छंद, नई रागनियाँ और नव्य कल्पनाएँ इसकी विशेषताएँ होती हैं। इनमें भी छन्द हमारी भावानुभूतियों के अनुरूप उन्हें सहज सुग्राह्य बनाते हैं, उन्हें रूप प्रदान करते हैं। प्रत्येक भाषा की प्रकृति और उच्चारण-पद्धति के अनुसार ये छन्द किसी न किसी नियम से परिचालित होते हैं। यही कारण है कि वैदिक तथा लौकिक-संस्कृत युग में वर्णिक छन्दों की ही प्रधानता रही। किन्तु, प्राकृत भाषा के समय मात्रिक छन्दों का अवतरण हुआ और अपभ्रंश-युग में उन मात्रिक छन्दों ने भी अन्त्यानुप्रास के सुयोग से एक दूसरा ही रूप धारण किया। 'अनुष्टुप' वैदिक-संस्कृत का प्रधान छन्द था, तो 'श्लोक' लौकिक-संस्कृत का संदेश-वाहक बना। इसी प्रकार 'गाथा' प्राकृत के झुकाव का व्यंजक रहा और 'दोहा' अपभ्रंश का परिचायक।

अस्तु, युग की प्रधान प्रकृति का संवाहक होने से काव्याभिव्यक्ति में छन्द का अधिक महत्त्व है। काव्य और संगीत दोनों लय पर अवलंबित हैं। लय स्वर की गति होती है तथा काव्य में छन्द लय के आधार पर टिका हुआ नाद-विधान है। वस्तुतः, छन्द एवं लय परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। संगीत की भाँति स्वरों की योजना के कारण उनमें लय का विधान स्वतः होता है। लौकिक तथा मात्रा-छन्दों में ही नहीं, वैदिक तथा वर्ण छन्दों में भी यह सौजन्य मधुरता का कारण है। छन्द के माधुर्य एवं स्वर-संयोजन के लिए कवि को अपनी सौन्दर्य-बोधवृत्ति का सचेतन उपयोग करना पड़ता है। शब्दों के स्वीकृत रूप में ही वह विकार उत्पन्न नहीं करता अथवा नूतन शब्दों का निर्माण भी करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि छन्दों की मूल प्रकृति तथा स्वभाव संगीत के समान ही हैं। संगीत का यह सौन्दर्य अपने नैसर्गिक तथा हृदयस्पर्शी-रूप में लोकगीतों की विशेषता है। यही कारण है कि छन्दों का उद्गम-स्रोत किसी-न-किसी प्रकार लोक-वाणी में ही निहित है। अनेक लोक-गीतों की धुनें तथा लोक-नृत्यों की तालें विविध छन्दों की मूलभूता हैं।

प्राकृत लोकभाषा ने अपनी प्रकृति के अनुरूप भिन्न मात्रा-छन्दों की परम्परा का सृजन किया। इन मात्राच्छन्दों में गणों की संख्या नियत नहीं थी। गण या वर्ण जितने भी हों, मात्राओं की संख्या ठीक बैठनी चाहिए। यही छन्द-परम्परा परवर्ती अपभ्रंश-भाषा के प्रादुर्भाव के समय पनपी। प्राकृत के मात्रिक-छन्द संस्कृत के वर्ण-वृत्तों की तरह अतुकांत थे। इन्होंने अपनी लोकानुभूति के धेय की संपूर्ति हेतु ही इन्हें अपनाया और विशिष्ट मोड़ देकर वैयक्तिक रूप से अभिमंडित किया। इसी से वहाँ 'गाथा' से मिलते-जुलते 'गाहू', 'विगाथा', 'उद्गाथा', 'गाहिनी' आदि छन्दों का अवतरण हुआ। इसी 'गाथा' छन्द को डॉ. भोलाशंकर व्यास ने प्राकृत के अधिकांश मात्रिक-छन्दों का मूल स्रोत कहा है और इस वर्ग के सभी छन्दों का स्रोत लोक-गीतों को माना है।³

परन्तु, परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य में प्राकृत के इन मात्राच्छन्दों का विकास एक सोपान और बढ़ा। उसके अनेक रचयिता जैन-मुनि तथा जैनेतर कवि-कलाकार लोक-प्रचलित विविध पद्धतियों को आत्मसात करके ही अपनी काव्याभिव्यक्ति द्वारा धार्मिक तथा रसात्मक धेय की पूर्ति करते थे। निदान, प्राकृत भाषा-पंडितों के संस्पर्श से लोक-मानस से दूर होती जा रही थी और अपभ्रंश का उदय लोक-धरातल पर होने लगा था। अस्तु, उसके साहित्य में लोक गीतात्मकता के समावेश से अनूठे संगीत का उदय होने लगा था, जिसने उसके छन्द-विधान को विशेष रूप से उद्गीरित किया। यों तो, गेयता प्राकृत के अतुकांत मात्रा छन्दों की भी विशेषता थी; पर अपभ्रंश यहीं नहीं ठहरी, उसने इन गेय छन्दों के चरणांत में तुक का विधान कर संगीत की तान में प्राण डाल दिये। इस प्रकार कभी सम (2, 4) और कभी विषम (1, 3) चरणों में तुक मिलाने की पद्धति को जन्म दिया। इस दृष्टि से अपभ्रंश के छन्दों में अन्त्यानुप्रास का अपना नूतन प्रयोग है, जो निश्चय ही मात्रा छन्दों के विकास का सूचक है। यह विशेषता न संस्कृत के वर्णवृत्तों में थी और न प्राकृत के मात्राच्छन्दों में। तुक का यह प्रयोग मात्राच्छन्दों तक ही सीमित नहीं रहा, अथच अपभ्रंश के इन लोक-गायक कवियों ने इस प्रकार प्राचीन वर्ण-वृत्तों में भी एक नवीनता उत्पन्न की। यथा निम्न मालिनी छन्द में -

खलयण सिरसूलं, सज्जणानन्द मूलं।

पसरइ अविरोलं, मगगणाणं सुरोलं॥

सिरि णविय जिणिन्दो, देइ चायं वणिंदो।

वसुहय जुइजुत्तो, मालिणी छंदु वुत्तो॥3.4 सुदंसणचरिउ

संस्कृत के पिंगल-शास्त्र के अनुसार जहाँ 'यति' होनी चाहिए वहाँ पर भी अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर मालिनी के एक चरण के दो चरण बना डाले। और सम-चतुष्पद मालिनी अर्ध-सम अष्टपद मालिनी बन गया। इस प्रकार अनेक नये छंदों की सृष्टि अपभ्रंश-साहित्य की विभूति है। अस्तु, तुकान्तता इन छन्दों की मौलिकता है। छन्द के पादान्त में समान स्वर-व्यंजना की नियोजना तुक कहलाती है। तुक राग का हृदय है। जो स्थान ताल में सम का है, वही स्थान छन्द में तुक का है।

मात्रा-छन्दों के विकास में अपभ्रंश-काल में इस तुकांत-प्रवृत्ति का प्रभाव यह हुआ कि अनेक लोक-गीतों की धुनें एवं लोक-नृत्यों की तालें भी यहाँ विविध छन्दों के उदय की मूलभूता बन गईं। डॉ. एच.डी. बेलणकर ने भी 'रासा', 'पद्धटिका' तथा 'घत्ता' आदि इस काल के मात्राछन्दों का संबंध लोक-नृत्यों से स्वीकार किया है तथा उन्हें आठ मात्राओं के धुमाली-ताल में गेय कहा है।⁴ वस्तुतः, अपभ्रंश-काव्य प्रधानतया गेय-परम्परा का काव्य है। अतः, उसमें सुनिश्चित मात्रा-गणना के साथ-साथ गेयता के अनुरूप शब्द-योजना भी मिलती है। इसी से अनेक साहित्यिक छन्दों का व्यवहृत गेय-रूप उसके छंद-विशेष की 'देशी' कहलाता था। इन गीतों को आभीरों के लोक-गीतों से आया हुआ कहा है तथा चौथी शताब्दी के आसपास से इनका प्रारंभ माना है।⁵ इस विचार से कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में इन तुकान्त पदों में 'दोहा' (48 मात्रा), 'चच्चरी' (20 मात्रा), 'पारणक' (25 मात्रा) तथा 'शशांकवदना' (10 मात्रा) आदि दर्शनीय हैं। इसके व्यतिरिक्त अनेक मिश्र-छंदों का प्रयोग भी इस काल में मात्रा-छन्दों के विकास की निश्चित दिशा का परिचायक है। यथा - कुण्डलिका (दोहा + काव्य या रोला), चन्द्रायन (दोहा + मदनावतार या कामिनी मोहन), रासाकुल (आभाणक या प्लवंगम + उल्लाला) तथा रड्डा या वस्तु (मात्रा + दोहा) और छप्पय या कवित्त (काव्य

+ उल्लाला) आदि। अस्तु, इस भाँति लोक-धरातल पर बने रहकर अपभ्रंश-साहित्य ने मात्रा-छन्दों के विकास में ऐतिहासिक योगदान दिया।

भाषा के विकास-क्रम में हिन्दी-भाषा का सीधा संबंध अपभ्रंश के साथ है। इसी से, उसका साहित्य अपने प्रारंभ-काल में न केवल उन्हीं प्रवृत्तियों से पूर्णतः प्रभावित है; प्रत्युत काव्य-रूप एवं छन्द-योजना की दृष्टि से भी अपने परवर्ती रूप में बहुत दूर तक उसी का अनुवर्तक है। अतः अपभ्रंश की इस महत्त्वपूर्ण कड़ी को भुलाकर हिन्दी के विकास की परिकल्पना नहीं की जा सकती। यों उसने अपभ्रंश के साथ अपनी पूर्ववर्ती प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य की विशेषताओं तथा प्रवृत्तियों को भी आत्मसात किया है; किन्तु, विशेष झुकाव अपभ्रंश की मात्रिक-तुकांत छन्द-पद्धति की ओर ही अधिक रहा है। इसके मूल में हिन्दी-भाषा की अपनी प्रकृति ही है। डॉ. नगेन्द्र का कथन इस विचार से उल्लेख्य है।⁶

अपभ्रंश की इस छन्द-संपदा के अनेक छन्द हैं। द्विपदी-दुबई, गाहू, उल्लाला, उगाहा, घत्ता, स्कंधक, झूलना, खंजा, गाहा, मालिनी आदि। सम-चतुष्पदी-दीपक, खेटक, अहीर, विलसित, पद्धरिका, पादाकुलक, उपवदनक, मदनावतार, रास, प्लवंगम, रोला, हरिगीता, पद्मावती, त्रिभंगी, जलहरण, मदनहर, मरहट्टा आदि। अर्ध समचतुष्पदी - विद्याधर, मनोहर, दोहक, वसंतलेखा, कोकिलावली, अभिसारिका आदि। इनके अतिरिक्त मात्रा, कुंडालिका, छप्पय, रड्डा, वस्तु आदि उल्लेख्य हैं। यों तो यह विषय अपनेआपमें स्वतंत्र शोध का विषय है; परन्तु हम अपने निबंध की सीमा में कतिपय छन्दों के स्वरूप, प्रयोग तथा प्रभाव की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि अपभ्रंश के इन छन्दों की विभुता एवं विन्यास कितना महत्त्वपूर्ण है।

‘दोहा’ अपभ्रंश साहित्य का प्रमुख छन्द रहा है और परवर्ती हिन्दी साहित्य में भी अनेक रूपों में व्यवहृत हुआ है। काव्य-रूपों के विकास में भी इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसका प्रयोग मुक्तक रूप से नीति काव्यों की अभिव्यक्ति का ही आधार नहीं बना है, प्रत्युत पद्धरिया, आरिल्ल, रोला, चउपई छन्दों के साथ मिलकर वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्यों के निरूपण में भी सहभागी रहा है। विविध छन्द ग्रन्थों में इसके ‘दुवहअ’ (स्वयंभू छंदस् तथा वृत्तजाति समुच्चय), ‘दोहक’ (छन्दोऽनुशासनम्), ‘दोधक’ (प्राकृत-पैगलम्) तथा ‘दोहा’ (छन्द कोश तथा छन्द प्रभाकर) प्रभृति नामों का संकेत मिलता है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी

इसके अनेक नाम प्रचलित हुए हैं। 'पृथ्वीराज-रासौ' में दोहा, दुहा, दूहा नाम मिलते हैं। कबीर आदि संतों की 'साखियाँ' तथा नानक के 'सलोकु' वस्तुतः दोहा के ही नामांतर हैं। तुलसीदासजी ने भी 'साखी, सबदी, दोहरा' कहकर इसके 'दोहरा' नाम को इंगित किया है। जहाँ इसने अपभ्रंश के जैन-कवियों की नीतिपरक तथा उपदेशात्मक वाणी को संगीत की माधुरी से अनुप्राणित कर लोक-हृदय की निधि बनाया (पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा); वहाँ सिद्धों ने भी पूर्व में अपने लोक-व्यापी प्रभाव हेतु दोहा कोशों के रूप में इसे अपनाया। सिद्ध सरहपा ने तो 'णउ णउ दोहाच्छन्दे कहावि न किम्पि गोप्य' कहकर अपनी अभिरुचि का परिचय दिया। इसे भले ही 'गाहा' या 'गाथा' लोक-छन्द का विकसित रूप कहा जाए, परन्तु तुक का प्रयोग अपभ्रंशकालीन विभूति है। अस्तु, यह अपभ्रंश काल का ही विशेष द्विपदात्मक 48 मात्राओं का प्रचलित छन्द है। इसके दो चरण होते हैं तथा 13, 11 मात्राओं पर यति का नियम है और अंत में एक लघु (।) होता है।⁷ सिद्ध साहित्य के संबंध में डॉ. धर्मवीर भारती ने इसके 13+11, 13+12 तथा 14+12 तीन रूपों का संकेत किया है।⁸

अपभ्रंश के इस लाडले छन्द का सर्वप्रथम प्रयोग महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में मिलता है -

मइं जाणिअं मियलोयणी, णिसयरु कोइ हरेइ।

जाव ण णव जलि सामल, धाराहरु बरसेइ।।4.8।।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसकी भाषा को अपभ्रंश ही माना है तथा प्रक्षिप्त मानने के आधार का खंडन किया है।⁹ संस्कृत के अनेक नाटकों के बीच-बीच में लोक-भाषा प्राकृत एवं अपभ्रंश की गीतियों का विधान मिलता है। तदुपरि, हेमचन्द्राचार्य के 'प्राकृत व्याकरण' में अनेक वीर एवं शृंगार-रसपूर्ण दोहे उपलब्ध होते हैं। 12वीं सदी की अब्दुल रहमान कृत 'संदेश-रासक' नामक अपभ्रंश की जैनेतर रचना में भी दोहा-छन्द का सफल प्रयोग दर्शनीय है। राजस्थान के 'ढोला मारू रा दूहा' जैसे लोकगीतों में यह बहुत दूर तक लोकप्रिय रहा है। पूर्व में बौद्ध सिद्धों की वाणी का प्रचार भी दोहा के माध्यम से हो रहा था। उनके 'दोहा-कोश' इस सत्य के द्योतक हैं तथा अनेक वज्रगीतियों में भी इसका प्रयोग किया

जाता था और विशेष उत्सवों के समय गाया जाता था।¹⁰ फिर भी इसके शास्त्रीय विधान का जितना निर्वाह जैन तथा जैनेतर कवियों ने किया, उतना ये बौद्ध-सिद्ध नहीं कर पाये। इसकी विभुता और विन्यास की दृष्टि से लेखक का 'अपभ्रंश का लाड़ला छन्द दोहा और उसकी काव्य-यात्रा' नामक आलेख पठनीय है।¹¹

'पद्मडिया' या 'पज्जटिका' 16 मात्रावाला मात्रिक छन्द है। 'स्वयंभू-छन्दस्' में इसे 4 चौकलोंवाला छन्द कहा है। 'संदेश-रासक' की भूमिका में प्रो. भायाणी ने इसे अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों का प्रमुख छन्द कहा है।¹² इसका प्रयोग स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, रामसिंह, अब्दुर्रहमान, कनकामर आदि ने बहुलशः किया है। विशेषतः अपभ्रंश के कड़वक-शैली के प्रबन्ध-काव्यों में इसका प्रयोग हुआ है। इसमें कुछेक अर्द्धालियों के बाद दोहा आदि द्विपदी छंदों से घत्ता देने की प्रवृत्ति रही है। इसी रूप में यह हिन्दी के जायसी, तुलसी आदि के मध्ययुगीन प्रबन्धों में दर्शनीय है। यह छन्द पश्चिमी अपभ्रंश में ही अधिक प्रचलित रहा। आचार्य द्विवेदी ने 'चौपाई' के रूप में भी इसके प्रयोग का संकेत किया है।¹³ चौपाई में भी चार चरण होते हैं और 16 मात्राएँ होती हैं, किन्तु अन्त में गुरु (S) होता है। छन्द-प्रभाकर में 'चौपाई' छन्द का भी संकेत किया गया है, जिसमें 15 मात्राएँ और अंत में दो लघु (ll) होते हैं।

इसका साम्य बहुत-कुछ अपभ्रंश के 'अडिल्ल' या 'अरिल्ल' छंद से है, जिसमें 16 मात्राएँ तथा अंत में दो लघु (ll) होते हैं। 'प्राकृत-पैंगलम्' में भी इसके यही लक्षण दिये गये हैं। इसका प्रयोग रास-काव्यों के साथ-साथ 'संदेश रासक' के 104, 112, 157, 170 तथा 174, 181वें छंदों में दर्शनीय है।

किन्तु रास-काव्यों में 'अडिल्ल' या 'अरिल्ल' के साथ 'मडिल्ल' या 'मरिल्ल' छन्द का भी प्रयोग मिलता है। हेमचन्द्राचार्य ने इन्हें एक ही छन्द के दो प्रकार माने हैं। प्रो. भायाणी ने इसी मत का समर्थन किया है।¹⁴ पर, डॉ. वेलणकर के अनुसार जब चारों चरणों में समान लय-ताल का विधान हो, तो वह 'अडिल्ल' और तीसरे तथा चौथे चरण में प्रथम दो से भिन्न लय-ताल का नियोजन हो, तो वह 'मडिल्ल' छन्द होता है।¹⁵ यथा -

अरिल्ल- सज्जि सेन सामंत सूर वर। गज्जे गेन सु लागि महाभर।।
 वंदे गरट चले गति मंदं। मानि सूर सामंत अनंदं।।¹⁶

मडिल्ल- तणु दीउन्ह सासि सोसिज्जइ। असु जलोहु णेय सोसिज्जइ।।
 हियउ पडिक्कु पडिउ दीवंतरि। पडिउ पतंगु णाइ दीवंतरि।।¹⁷

कड़वक-शैली में 'घत्ता' देने का तात्पर्य पाठक की चित्तवृत्ति में एक ही प्रकार के छन्द-प्रयोग से उत्पन्न ऊब को दूर करने का ही ध्येय है। जिस प्रकार नर्तक तबले की एक विशेष ताल के उपरांत नये जोश में भरकर, नृत्य में गति ला देता है। अपभ्रंश में इस 'घत्ते' के लिए 'रोला', 'गाहा', 'उल्ला' तथा 'आर्या' आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है। किन्तु वहाँ 'घत्ता' नामक छन्द विशेष का भी प्रयोग किया जाता रहा होगा, जैसा कि मुनि कनकामर के 'करकंडुचरिउ' में द्रष्टव्य है -

घत्ता- क वि माणमहल्ली मयणभर, करकंडहो समुहिय चलिय।

थिरथोरपओहरि मयणयण, उत्तक्तकणयछवि उज्जलिय।।3.2।।

'घत्ता' 62 मात्रा का छन्द है। छन्द प्रभाकर में इसके विषम-पदों में 18 तथा सम-पदों में 13 मात्राओं के विधान के साथ अंत में तीन लघु (।।।) का संकेत किया है। किन्तु, 'प्राकृत-पैंगलम्' में मात्रा तो इतनी ही कही गई हैं और अन्तिम तीन लघु को भी इंगित किया है; पर दोनों चरणों में चतुर्मात्रिक सात गणों का भी उल्लेख किया गया है।¹⁸

हिन्दी के मध्यकालीन कवियों सूर, तुलसी तथा जायसी ने दोहा और सोरठा तथा कहीं-कहीं दोनों का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त तुलसीदासजी ने रामचरित मानस, लंकाकांड में 'हरिगीतिका' छन्द को जोड़कर नवीनता का परिचय दिया है -

हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरे आगे।।
 देखि विकल सुर अंगद धायौ। कूदि चरन गहि भूमि गिरायौ।।

हरिगीतिका

गहि भूमि पारुयौ लात मारुयौ बालिसुत प्रभु पहिं गयौ।
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयौ॥
करि दाप चाप चढ़ाय दस संधानि सर बहु वरषई।
किअ सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई॥

दोहा

तब दसमुख रावन के सीस भुजा सर चाप।
काढे बहुत बढे पुनि जिमि तीरथ कर पाप॥

इस छन्द का प्रयोग आदिकालीन 'पृथ्वीराज रासौ' में कवि चन्द्रवरदाई ने भी किया है। लेकिन वहाँ इसके 'मालती', 'गीतामालची' तथा 'गीतामालती' नामों का भी संकेत मिलता है -

गीतामालती

सजि चल्थौ तामं युद्ध धामं केन कामं पूर्यं।
घन घोर घट्टा समुद फट्टा इम उलट्टा सूर्यं॥4.21॥
धुंधरिम भानं पुरेसानं हेम जानं हल्लयं।
कनवज्ज थानं परि भगानं सूरतानं सल्लयं॥4.22॥

और 'परमाल रासौ' के 10वें जयचन्द-मिलाप खण्ड में पृ. 210 पर इसके लिए केवल 'छंद' नाम का प्रयोग किया है। 'छन्द-प्रभाकर' में इसे 28 मात्रा का छन्द कहा गया है, जिसमें 16, 12 पर यति तथा अंत में 15 का विधान बताया है।¹⁹

जायसी, मंझन तथा कबीर ने 'उल्लाल' छन्द को भी अपनाया है। यथा -

उल्लाल

पिउ पिउ करत जीउ धनि सूखी बोली चारिक भांति।
परी सो बूँद सीप जनु मोती हियँ परी सुख सांति॥²⁰

उल्लाल

सदा अचेत चेत जीव पंछी, हरि तरवर करि बास।
झूठे जग जिनि भूलसि जिवरे, कहन सुनन की आस॥²¹

‘उल्लाल’ 56 मात्रा का दंडक छन्द है, जिसमें 15, 13 पर यति होती है।²²

‘रोला’ छन्द 24 मात्रा का छन्द है, जिसमें सम-पदों में 13 और विषम पदों में 11 पर यति होती है।²³ इसका स्वतंत्र तथा मिश्रित प्रयोग भी दर्शनीय है। ‘पृथ्वीराज रासौ’, सूरदास तथा नन्ददास ने इसका स्वतंत्र प्रयोग ही किया है। यथा -

कुच वर जंघ नितंब निसा बद्धत धन बद्धी।
लंक छीन उर छीन छीन दिन सीत सु चद्धी॥
गिर कंदर तब जुगति जागि जोगीसर मंनं।
ते लम्भे कविचंद वाम कामी सर धनं॥²⁴

नन्ददास और सूरदास ने अन्त में दस मात्रा की एक लघु कड़ी जोड़कर शैली में संगीत का स्फुरण किया है -

उनमें मोमें हे सखा, छिन भरि अंतर नांहि।
ज्यों देख्यौ मो माँहि वे, हों हूँ उन्हीं मांहि॥
तरंगिनि वारि ज्यों॥74॥²⁵

दोहे के साथ इसका मिश्रित रूप अपभ्रंश के फागु-काव्यों में अवलोकनीय है -

सरल तरल भुय वल्लरिय सिहण पीणघणतुंग।
उदरदेसि लंकाउली य सोहड़ तिबलतुरंग॥10॥
अह कोमल विमल नियंबबिंब फिरि गंगापुलिणा।
करिकर ऊरि हरिण जंघ पल्लव कर चरणा।
मलपति चालति वेलहीय हंसला हरावड़।
संझारागु अकालि बालु नहकिरणि करावड़॥11॥²⁶

‘संदेश-रासक’ के भी छन्द 107, 148, 183, 191 तथा 199 इस दृष्टि से दर्शनीय हैं -

झंपवि तम बहलिण दसह दिसि छांयउअंबरु।
उन्नवियउ घुर हरड़ घोरु घणु किसणाडंबरु॥

णहह मग्गि णहवल्लि तरल तडयांडिवि तडक्कइ।
 ददुर रडणु रउद्द कुवि सहवि ण सक्कइ॥
 निबड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहयरु।
 किय सहउ पहिय सिहरट्टियइ दुसहउ कोइल रसइ सरु॥148॥²⁷

इसी प्रकार 'छप्पय' छंद मिश्रित छंद है। 'पृथ्वीराज-रासौ' में इसका बहुलश प्रयोग हुआ है और इसे 'कवित्त' नाम दिया गया है - 'सुन गरुड़ पंख पिंगल कहै, छप्पै छन्द कवित्त यह' (109)। इसमें, जैसाकि नाम से स्पष्ट है, षट् पद होते हैं, जिनमें प्रथम चार 11, 13 मात्राओं के विश्राम से 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार 'रोला' छन्द के और अंतिम दो चरण 28 मात्राओं वाले 'उल्लाला' छन्द के होते हैं।²⁸ 'संदेस-रासक' में इसे 'वस्तु' नाम दिया गया है और हिन्दी के सूर तथा तुलसी ने²⁹ 'छप्पय' का ही उपयोग किया है।

हय कट्टत भू भयौ, भये भूपयन पलट्यौ।
 पय कट्टत कर चलयौ, करहिं सब सेन समिट्यौ॥

कर कट्टत सिर भिरयौ, सिरह सनमुष होय फुट्यौ।
 सिर फुट्टत धर धर्यौ, धरह तिल तिल होय तुट्यौ॥
 धर तुट्टि फुट्टि कविचंद कहि, रोम-रोम बिंध्यौ सरन।
 सुर नरह नाग अस्तुति करहि, बलि बलि बलि छग्गन मरन॥2214॥³⁰

'नानक-वाणी' में भी विरह-वर्णन की बारह मासा-विधान्तर्गत छप्पय-छन्द ही किंचित् मात्रा-भेद से अवलोकनीय है।³¹

इस प्रकार स्पष्ट है कि छन्दों की गति-विधि तथा रूप भाषा के साथ-साथ बदलता रहता है और युगीन भावाभिव्यक्ति के अनुरूप किन्हीं विशिष्ट छन्दों का प्रयोग या तो प्रधान हो जाता है अथवा नवीन छन्द की सृष्टि होती है। यथा, बौद्ध-सिद्धों के चर्यापदों में 'पादाकुलक' छन्द की ही प्रधानता रही है और यह परम्परा मध्ययुगीन संत-भक्तों के पदों तक प्रयुक्त होती मिलती है।

'पादाकुलक' को प्राकृत-पैंगलम् में चार चरणों वाला और प्रत्येक चरण में 16 मात्राच्छन्द कहा है।³² इसमें लघु-गुरु का कोई विधान नहीं होता।

‘पादाकुलक’ की संधि करने पर - पाद + आकुलक = पदों का संग्रह करनेवाला अर्थ मिलता है। यथा -

16 मात्रा (i) जो यण ॥ गोअर ॥ ॥ आला ॥ ॥ जाला ॥
॥ आगम ॥ ॥ पोथी ॥ ॥ इष्टा ॥ ॥ माला ॥४०॥³³

16 मात्रा (ii) एक्कु ण किज्जइ तंत ण मंत।
णिअ धरिणी लइ केलि करंत।
णिअ घरे घरिणी जाब ण मज्जइ।
ताव कि पाँच वण्ण विहरिज्जइ।³⁴

इनकी मात्राओं में सर्वत्र समानता नहीं मिलती; कहीं 14, कहीं 15 और कहीं 24 तथा 28 मात्राओं तक का प्रयोग मिलता है। यथा, 14 मात्रा का चर्यापद -

दिढ करिअ महा। सुह परिमान।

लुइ भनइ गुरु। पुच्छिअ जान।³⁵

यह परम्परा बौद्ध-सिद्धों से नाथ-पंथियों में होती हुई हिन्दी के संत-भक्त-कवियों तक पहुँचती है और जयदेव के गीत-गोविन्द की पदावली से भी साम्य स्थापित करती है -

भूसुकुपा - ‘भूसूक भनइ कत राउतु भणइ कत सअला सहज सहावां।³⁶

जयदेव - धीर समीरे यमुना तीरे बसति बने बनमालीं। - गीत-गोविन्द

गोरखवानी- मन में रहिणां भेद न कहिणां बोलिवा अमृत वांणी।

अगिला अगनी होइवा अवधू तौ आपण होइवा पांणी।³⁷

दादू- कलि धौल बरन पलटिया, तन मन का बल भागा।

जोबन गया जुरा चलि आई, तब पछितावन लागा।³⁸

‘पर्यरि’ छन्द भी इसी पादाकुलक से विकसित हुआ जान पड़ता है। इसकी गेयता ने इसे अधिक कोमल बना दिया है, जिसका स्पष्टीकरण सू-तुलसी आदि भक्तों के लीला-पदों में हो जाता है। यह भी इन्हीं चर्यापदों के परवर्ती विकास का परिचायक है। उनकी ‘टेक’ में इन्हीं के समान 16 मात्राओं का विधान मिलता है। तुलसी की ‘विनय पत्रिका’ के पद ‘मन पछतैहैं अवसर बीते’ में टेक की पंक्ति पादाकुलक की होने से 16 मात्रा की है और सूदास के ‘खेलन हरि निकसे ब्रज होरी’ पद में भी 16 मात्रा की चौपाई छंद की है। टेक का प्रयोग गीतात्मकता के लिए ही होता है।

इस प्रकार कतिपय छन्दों के विवेचन के बाद निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अपभ्रंशकालीन छन्द-संपदा निश्चय ही बड़ी समृद्ध एवं पुष्ट रही है और अपने परवर्ती हिन्दी-काव्य की उपजीव्य बनकर, लम्बे समय तक उसे प्रभावित करती रही है, जिसके लिए हिन्दी-साहित्य उसका चिर-ऋणी रहेगा। वस्तुतः ये सभी जैन तथा जैनेतर कवि वीतरागी एवं आध्यात्मिक थे। परन्तु, अपनी इस आध्यात्मिक निधि को लोक-जीवन के लिए कल्याणकारी बनाने के हिमायती थे। इसी से लोक-भाषा और लोक-छन्दों की गीतात्मकता और सरसता का इन्होंने प्रश्रय लिया तथा चिरजीवी साहित्य का सृजन किया, जो शताब्दियों के बाद आज भी किसी-न-किसी प्रकार लोक-जीवन की अक्षय निधि बना है। निःसंदेह, ये सभी सच्चे अर्थों में कलमजीवी, कलाजीवी और पर-हितार्थ-जीवी होने से ‘कविर्मनीषी परिभूस्वयंभू’ कहलाने के अधिकारी पात्र थे।

1. ‘पल्लव’ की भूमिका - सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ 28
2. ‘छन्द : पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते’ - छन्द-प्रभाकर, पृ. 10
3. हमारा ऐसा अनुमान है, गाथा-वर्ग के मात्रिक जातिच्छंद मूलतः लोक-गीतों के छन्द रहे हैं यही गाथा छन्द प्राकृत के अधिकांश मात्रिक-छन्दों का मूल स्रोत है। - प्राकृत-पैंगलम् भाग-2, संपादक - डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 335

4. Bombay University Journal Vol. II, 1933-4, Apabhramsa Metres
- by Dr. H.D. Velankar, p. 34.
5. प्राकृत-पैंगलम् भाग-2, संपादक - डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 317
6. संस्कृत बहुत कुछ संश्लिष्ट भाषा है, उसकी विभक्तियाँ शब्दों में संयुक्त रहती हैं, उसमें संधि और समास की बहुलता है। फलतः वर्णों की शृंखला-सी बन जाती है। ऐसी भाषा में वर्णिक छन्द ही अधिक अनुकूल पड़ सकते थे - निदान, वहाँ वर्णिक छन्दों की ही प्रधानता रही। हिन्दी की प्रकृति एकांत विश्लेषण प्रधान है; अतएव, उसकी रुचि स्वभाव से ही मात्रिक छन्दों की ही रही। वीर-गाथा काल में वर्णिक छन्दों का भी प्रयोग हुआ, परन्तु उनकी अपेक्षा दोहा, छप्पय, पद्धटिका आदि मात्रिक छन्द ही कहीं अधिक प्रचलित थे।
- देव और उनकी कविता - डॉ. नगेन्द्र, पृ. 244
7. छन्द प्रभाकर - जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', पृ. 91
8. सिद्ध साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. 293-4
9. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंचम व्याख्यान, पृ. 98-99
10. जिस समय सिद्धों ने दोहा छन्द अपनाया, उसका स्वरूप स्थिर नहीं हुआ था। बौद्धों की परम्परा में कई प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनसे दोहों की गेयता सिद्ध होती है। ऐसे दोहों को 'वज्रगीति' कहते थे। 'साधनमाला' में बुद्ध कपाल की साधना में 4 दोहों की एक वज्रगीति मिलती है। 'हे वज्रतंत्र' में भी दो वज्र गीतियाँ मिलती हैं। इन सभी गीतिकाओं को वज्रयानी-साधनाओं में गाने और कभी-कभी उन पर नृत्य करने का विधान भी मिलता है।
- सिद्ध-साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृ. 294
11. अपभ्रंश भारती, अंक 8, नवम्बर 1996, पृ. 21-26
12. संदेश रासक, संपादक - जिनविजय मुनि एवं डॉ. हरिवल्लभ भायाणी, भूमिका पृ. 58
13. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 103
14. संदेश रासक - भूमिका, पृ. 53
15. When all the lines have a common rhyme, This metre is called 'Adila' but when the 3rd & 4th lines have a different rhyme, is called 'Medila'.
- Bombay Univ. Journal, Vol. II, 1933-34, Apabhramsa metres, page 41.

16. पृथ्वीराज रासौ (सभा), 48वाँ समय, छन्द-184, पृष्ठ 1325
17. संदेश रासक, संपा. आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय प्रक्रम, छन्द 111, पृ. 28
18. प्राकृत-पैंगलम्, संपादक - डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 90
19. छन्द-प्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', पृ. 69
20. पद्मावत, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, पृ. 136
21. कबीर ग्रन्थावली (सभा), रमैनी, पृ. 226
22. छन्द-प्रभाकर, पृ. 91
23. वही, पृ. 63
24. पृथ्वीराज रासौ (सभा) काशी, पृ. 1265
25. नन्ददास ग्रंथावली (सभा) भँवरगीत, पृ. 189
26. प्राचीन फागु संग्रह, सं. डॉ. भोगीलाल ज. संडेसरा, पृ. 85
27. संदेश-रासक, सं. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
28. प्राकृत-पैंगलम् I, संपादक डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 223
29. तुलसी-कवितावली, बालकांड, छन्द 11, पृ. 7
30. पृथ्वीराज रासौ (सभा), 61वाँ समय
31. नानकवाणी, संपादक डॉ. जयराम मिश्र, पृ. 675
32. प्राकृत-पैंगलम्, डॉ. भोलाशंकर व्यास, पृ. 116
33. चर्यागीति-पदावली, संपादक - डॉ. सुकुमार सेन, पृ. 42
34. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ. 148
35. वही, पृ. 46
36. चर्यापद, 42
37. गोरखवाणी, डॉ. पीताम्बर बड़थवाल, पृ. 23
38. संत सुधासार - संपा. वियोगी हरि, पृ. 58

‘राम त्रिवेणी कुटीर’

49-बी, आलोकनगर, आगरा-20



सिरिपाल-मयणासुंदरीचरिय

- पण्डित णरसेण



सिरिपाल-मयणासुंदरीचरिय (सिद्धचक्र कथा) नामक यह पाण्डुलिपि दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान में संगृहीत पाण्डुलिपियों में से एक है। इसकी वेष्टन संख्या 1282 है। इसमें राजा श्रीपाल एवं उनकी रानी मैनासुन्दरी की कथा एवं उनके माध्यम से सिद्धचक्र पूजा के महात्म्य का वर्णन है। अपभ्रंश भाषा में रचित इस कथा के रचनाकार पंडित णरसेण हैं। यह कथा 96 पृष्ठों (पत्र 42) में निबद्ध है।

यहाँ इस रचना का एक अंश प्रकाशित किया जा रहा है। इस अंश की प्रतिलिपिकार हैं श्रीमती माया कौशिक, सहायक निदेशक, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।

सिरिपाल मयणासुंदरी चरिय

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥

सिद्धचक्कविहिरिद्धियगुणहसमिद्धिय। पणवेप्पिणुसिद्धमुणीसरहो।
पुणुअक्खमिणिम्मलु। भवियहुमंगलु। सिद्धमहापुरिसामियहो॥

जयणाहिहिणंदणआइवंभ। जयअजियजिणाहिवमहियडंभ।
जयसंभवझाइयसुक्कइताण। जयअहिणंदणसुहपरमणाण।
जयसुमयणाहकम्मरिवाह। जयपउमणाहरत्तुपलाह।
जयजयसुपाससिरिरमणिपास। जयचंदप्पहहयमोहपास।
जयपुष्पयंतदमियारिवग्ग। जयसीयलसाहिवमोक्खमग्ग।
जयसेयभव्वसरकमलहंस। जयवासपूज्यलद्धसीस।
जयविमलणाणकरुणनिहाण। जयजिणअणंतजाणियपमाण।
जयधम्मतिथुसोवंणकंति। जयसंतिजिणेसरविहियसंति।
जयकुंथुनाहकयजीवमिन्ति। जयअरमाणियणिव्वाणथुत्ति।
जयमल्लिजिणेसरमल्लिमोद। जयसुव्वयथुयतियसिंदविंद।
जयनभिरयणत्तयभूसियंग। जयणेमितजियरायमइसंग।
जयपासभुवणकमलेक्कभाण। जयजयहिजिणेसरवड्डुमाण।

घत्ता

जेजिणगुणमालपढेसइ। मणिभावेसइ। रिद्धिविद्धसोलहइजयऊ।
सोसिद्धिवरंगणणारिहिं। हयजरमारिहिं। सुहनरसेणपहरमपऊ॥१॥

जिणवयणाउविणिग्गयसारी। पणविविसरसइदेविभडारी।
सुकइकरंतुकव्वुरसवंतऊ। जसुपसाइवुहयणुरंजंतऊ।
साभगवइमहुहोइपसणी। सिद्धचक्ककहकहउरवणी।
पुणुपरमेट्टिंपंचपणवेप्पिणु। जिणवरुभासिउधम्मसुणेप्पिणु।
विउलमहागिरिआयउबीरहु। समवसरणुसामीजयधीरहो।
तहोपयवंदणसेणिउचलियऊ। चेलणाहिपरिवारहमिलियऊ।
तिणिणपयाहिणदेविपसंसिऊ। उत्तमंगुभूरेविणमंसिऊ।
जायतिलाभरिदेविणुणाहहो। पणविविबहुभाविहिहयमोहहो।

गणहरणिगंथहपणवेप्पिणु । अज्जियाहवंदणहकरेविणु ।
 खुल्लयइंछाकारुकरेप्पिणु । सावथाहसयसमवंछेविणु ।
 तिरियहकिउसमभाउगुरिट्ठऊ । पुणुणरिंदुणरकोट्ठिणिविट्ठऊ ।
 पुच्छइसेणुउवीरजिणेसर । सिद्धचक्कफलुकहिपरमेसरु ।
 ताउछलियवाणिवयआयर । णंलहरीतरंगरयणायर ।

घत्ता

गोइमुगणिसाहइ । अणु पडिगाहइ । हउ उदेसु पयासइं ।
 सिद्धचक्कविहिइट्ठिय । णिगयरिट्ठिय । सेणियकहमिसमासइं ॥2॥

इहजंवूदीउदीवहसमिद्धु । तहभरहखेत्तुजयसुप्पसिद्धु ।
 तहिअत्थिअवंतीविसउरम्मु । जहिणरवइपालइसव्वधम्मु ।
 जहिगामवसहिपट्टणसमाण । पट्टणहविणिज्जियसुरविमाण ।
 णयरायरसुरहसोहाखण्ण । दोणामुहकव्वडखेडछण्ण ।
 सरिसरतलाबकमलिणिहिपिहिय । हंसावलिसोहहिहंससहिय ।
 गोमहिसिसंडजहिमिलियमालि । भक्खंतिइछखडकमलसालि ।
 णीलुप्पलुवासिउबहइनीरु । धीवरहिविवज्जिउजलुगहीरु ।
 जेवहिपंथियजहिछडरसोइं । धयखीरदहियमक्करहमोइं ।
 पहिदरकमिरियचक्खेतिकेवि । इक्खारसुपिज्जइसाउलेवि ।
 पाणुउपावंतिपवालियाउ । दिक्खालिउथणहरबालियाउ ।

घत्ता

तहिबिसउजिमालऊ । बहुविहमालऊ । अयरदेशकयमालऊ ।
 जहितियसिमालऊ । अइसुकमालऊ । भवणंमालइमालऊ ॥3॥

जेभुवमंडलमंडलअगें । जयप्पहुजयसिरिमंडलअगें ।
 जहिणगहइगहुमंडलकोई । अभउदानुपरमंडलकोई ।
 जहिपुरिपवरंतरिआवंती । णिहयसणाहविहुरआवंती ।
 जहिपहुआइपइइअरिपातल । वसुवइलक्खणवाणवपातल ।
 रच्छवाववणजाणइआवण । खज्जवत्थपूरेपंथावण ।
 जहिणरविउसपढहिबहुवाणिय । सिरियणिवासवसहिबहुवाणिय ।

गोजिमकियच्चउथणपयपोसण। तेमवेविधणकणपयपोसण।
जहिअकित्तिणपावइपरसण। अमरावइआवइजिमपरसण।

घत्ता

उज्जेणियणयरिहिपयडथिय। कणयरयणकोडिहिजडिया।
वलिवंडधरंतहंसुरवरहं। अमरावइणंखसिपडिया ॥4॥

उववणहिविसोहइसाविचित्ति। कारंडहसव्वहचुमुचुमंत।
वल्लीहरेहिकिनररमंति। सोलहियपुंसमहरइलवंति।
जलखाइयसोहहिकमलछण्ण। सालत्तयमंडियपंचवण्ण।
पुणुणयरहब्भंतरिहइमग्गु। रयणहंणिवद्दुणंमोक्खमग्गु।
जहिसुद्धफलिहमणिभत्तिपिक्खि। करिकरइवेंहुपंडिविंबुदेखि।
णवसत्तपंचभूमइधराइ। सोहत्तिणिवद्दइंतोरणाइं।
खंडतीसपवणिभुंजंतिभोऊ। जिणधम्मासत्तउवसइलोऊ।
पइपालुणरेसरुवसइतेत्थु। सत्तंगुरिज्जुपालइपसत्थु।
णरसुंदरिधरणिमणोहरीय। जिहकामहोरइराहवसुसीय।
तहुपढमकण्णसुरसुंदरीय। मयणासुंदरिलहुइंविणीय।

घत्ता

पाटणहंणिमित्त। गुणसंजुत्त। पढमसमप्पियदियवरहो।
जिणिजिणियपुरंदरि। मयणासुंदरिसोआएसीमुणिवरहो ॥5॥

साजेट्टकण्णपुणुपढइकेम। वुहयविणउत्तरुदेइजेम।
तहिरूवरिद्धिपिक्खेविताउ। सुरसुंदरिअग्गइभणइराउ।
जोवरुरुच्चइसोकहहिमुज्झु। जिमतासुविवाहउपुत्तिउज्झु।
त्तिणिमंगिउवरुणरवइअभीहु। कउसवीपुरिसिंगारसीहु।
सोआणिविरायंदिण्णकण्ण। हयगयआपूरिहिरण्णवण्ण।
परिउसिऊपरियणुसयलुलोऊ। सोदिणकुम्बरिविलसंतुभोउ।
अहणिसुपरिवुज्झियविप्पधम्मु। वलिवासुएउदिक्खियहकम्मु।
गोसुवअसुमेहइणरसुवाई। अयजण्णविहाणइमुणियताइ।
धियजोणियसहियहंमुणइंभेऊ। गंडयहकरुकुलिमंसहेऊ।

भट्टागमिअक्खियजलहंसुद्धि । तिप्पंतिपियरपुणुमंसगिद्धि ।
 पसुकयवहेणतहिंसगिरम्म । गेजोणिपरसेंपरमधम्म ।
 अहिणिसुमणुवट्टइसत्तएण । परमत्थुगंधबुज्झिणतेण ।

घत्ता

भवियहुणिसुणिज्जहुं । हियइमुणिज्जहु । मयणसुंदरिपढणविहि ।
 खवणाणइंबुज्झिउ । तिहुवणुसज्झिउ । भूभवीसुविफुरइतहिं ॥6॥

पुणुलहुइकुम्वरिणिप्पणकिहं । पणवारुविअइवुहपवत्तुजिहं ।
 वायरणुछंदुणाडउमुणिउ । णिधंदुतक्कुलक्खणुमुणिउ ।
 पुणुअमरकोसुलंकारसोहु । आगमुजोइसुबुज्झिउअक्खोहु ।
 जाणियवाडहत्तरिकलपहाण । चउरासीखंडइतहिंविणाण ।
 पुणुगाहदोहछप्पयसत्तूव । जोणीचउरासीवंधत्तूव ।
 छत्तीसरायसत्तरिसट्टाऊ । पुणुसुद्धहचंसट्टिहत्थभाऊ ।
 पुणुगीयणेत्तपाडगइकव्व । परियाणियसत्थपुराणसव्व ।
 छहभासाछहदंसणणियाणि । छाणवइलिहियपासंडजाणि ।
 समुद्धियलक्खणमुणइसोइं । तेपढियगुणियचउदहविवज्ज ।
 भेसहऊसहगणफुरइताहिं । अंगुलिअंगुलिछाणवइवाहिं ।
 बुज्झइपहाउवहुदेसभास । अट्टारहलिविजाणियणिजास ।
 णवरसचउवग्गहमुणइभेइ । जिणसमइलहियचारिउणिउइ ।
 रहरहसुकामसत्थुविमुणेइ । पुणुकागरुद्धितहिंकोजिणेई ।
 खवणाणाइंढियसुमुणिहिपासु । अट्टावइजीवहंसमासु ।
 एसयलसत्थपरिणइयतासु । सम्माहिगुत्तिमुणिवरहोपासि ।
 मयणासुंदरिलहुडीविणीय । साएवमाइगंधहंगरीय ।

घत्ता

गयकुमारिलहुतेत्तहिं । अच्छइजेत्तहिं । सहपरिट्टउताउजहिं ।
 साजणमणहारी । बहुगुणसारी । लावतिकामुपिसाउलहु ॥7॥

जिणगंधोवऊसीसिलिएप्पिणु । आसीवाउदिणुंपणवेप्पिणु ।
 सीसलएविलियउगंधोवऊ । णिम्मलीयणिम्मलकरणोवऊ ।

पुणुपवित्तुविपावपणासणु । अट्टकम्मपयजीहिविणासणु ।
 पुणुकुम्वरियहिंरुउअवलोइवि । थिउणरिंदुहिट्टामहुजोइवि ।
 चिंतइनरवरइकण्णसलक्खण । कवणहोदिज्जइएहवियक्खण ।
 एमभणेविणुकन्नबुलावइ । मग्गहिंवरुजोतुवमणिभावइ ।
 जेमपुत्तितुवजेट्ठिहिंइछिउ । वरुगणिहउसुरसुंदरिवंछिउ ।
 किंपिनवोल्लइमउणेंअछइ । भणइताउसुइकाइणियछइ ।
 दीसंहिदेविरुवधवलंवर । परिणिपुत्तिजोफुरइसंयवरि ।
 णिसुणेविणुसुंदरियचत्तक्किय । दिक्खिरेविअहमुहकरिथक्किय ।

घत्ता

मणिकंपइपुणुजंपइं । ताउचएविणिरुत्तउ ।
 कुलउन्नउजंजुत्तउ । देमिअज्जुपडिउत्तरु ॥ 8 ॥

ताभणइकुमरिभोणिसुणिताय । जाकण्णहोइमाबप्पजाय ।
 कुलउत्तिहिवप्पकिएहुमग्गु । आणइइंछिउवेसाभुअंगु ।
 जहिंजणुविपाइपक्खालिदेइ । परिवारकुंडवहोमंतुलेइ ।
 जणपंचवइसिरोपहिवाहु । जसुदेहिवप्पइमसोजिणाहु ।
 मावप्पुभाइपरिणऊकरेइ । णियकम्मुताहअग्गइंसरेइ ।
 धीयहंसुहागुचारहडिपुत्त । दुहवहवकोकरइकंत ।
 णिसुणहिंतायजिणागमिअक्खिऊ । कम्मसुहासुहसबहंअक्खिऊ ।
 एमभणेंचित्तिगुत्तिमुणीसरु । कम्मेरंकुविकम्मैंसरु ।
 णियकम्मंजुणिलाडहलिहियऊ । सोकेमेट्टइजोविहिंविहियऊ ।
 एयहंवयणहंमाकरिविप्प । सोहोइजुलिहियउकम्मिवप्प ।
 इयणिसुणेविणुकोपिउणिवई । देक्खेविउकम्मुइहिंतणउमइं ।

घत्ता

ताणरवइकुद्धउ । भणइविरुद्धउ । जाहुदेविणियगेहहो ।
 सागयवरगामिणि । जणमणरामिणि । गयसरंतिजिणदेवहु ॥ 9 ॥

तापहुणियमणिसुवहंतउ । वाहियालिलहुचलिउतुरंतउ ।
 हयगयवाहणसिवियाजाणहिं । आयवत्तसिगिरिअप्पमाणहिं ।

रोयसोयबहुदुक्खपउत्तऊ। कोढिउदिट्टसम्महआवंतऊ।
 वेसरिरुढउवियलियगत्तउ। सीसोवरिपलासदलछत्तउ।
 मुणिणिंदियउपुव्वकमभीडिऊ। ऊवराइंतहिंपावेंपीडिऊ।
 ढलहिचमरबहुघंटासद्दहिं। कयकालाहलुसिंगाणद्दहिं।
 गलियणासकरचरणंगुलियइं। कोढियताहणिरंतरमिलियइं।
 तेजंपहिहएहुअम्महसामिऊ। अज्जुअवंतीआउगुसाइऊ।
 जइकोढिउकिरिआहणिकिट्टऊ। तोविनणिवइणेहुतहुफिट्टइ।
 बहुआडंवरेणंसिहुंचल्लइ। वाहिदेखिणियपरिणुघल्लइं।

घत्ता

चल्लइणिवसुत्तहं। परियणजुत्तहं। देसदिएसविधाडवइ।
 अकंधागुरुरघर। अरुकंवलवर। मेलइणिवपउताडइं॥10॥

मंडलवइपरमंडलुसंचहिं। रत्तपित्तरणयाउणखंचहि।
 मेहदाहुसहकियभंडारी। जलदोणियासयलपणिहारी।
 वहिरदाहुतवोलुसमप्पइ।
 उक्कुत्तियपावसिजवालिय। गुम्मवाहिधरसहकुटवालिय।
 सूरवण्णतेसूरसलक्खण। गलियसाहकियमंतवियक्खण।
 कच्छदाह विक्कीदलवइ। वरठियालसहरक्खहिंनरवए।
 पाडिहेरजेणाकीभासहिं। उवरोहियजेकालउभासहिं।
 पित्तसुक्कणरइएंगच्छहिं। रोमविहिणअंगरहअच्छकहिं।
 चमरहारिमक्खियगणुजगउं। छत्तुधरइणासाझुडुलगउ।
 काहलतहिंजोसाणइंदावइं। घंतालहिबोलुणआवइ।
 इयसामग्गीदेइप्प्याणउं। आपुणुउवराइसइंराणउ।

घत्ता

पिक्खेविणुराएंपुणुअणुराएं। मंतिहिवोलणलगउ।
 कुढिगणउंआवइ। महुमणिभावइ। मयणासुंदरिजोगउ॥11॥

अह मंदराउ जणनयणपिउ.....

अह मंदराउ जणनयणपिउ	पुव्वासए पुव्वविदेहु थिउ।
ओछपिणी अवसपिणि न तहिं	लोयाहिव उपज्जंति जहिं।
नाहेय बाहुबलि-भरह-जया	अरहंत-सिद्ध-चक्कवइ सया।
तत्थत्थि अमुणियविवक्खभउ	नामेण पुक्खलावइ विसउ।
जो जलनिहि व्व रयणुद्धरणु	घरसिंगलग्ग-पज्जरियघणु।
घणनंदणवणसंछइयदिसु	दिसमाणरिद्धि-हल्लिरकणिसु।
कणकणिरदसणसीयलसलिलु	सुललियकोइलसरभरियबिलु।
विलसंतपवणकंपियसरलु	सरलुप्फिडंत-हरिणी-तरलु।
तरलच्छि-छेत्तठियहलियवहु	बहुविंभियपंथियरुद्धपहु।
पहसंतरमियगामीणजणु	जणयाहिलासनायरमिहुणु।

घत्ता - मणिसारहिं तिहिं पाथारहिं परिहामंडलि जलपयरि।
बहुभोयहिं मंडियलोयहिं अत्थि पुंडरिंकिणि नयरि।।

महाकवि वीर

जंबूसामिचरिउ, 3.1

मंदराचल से पूर्व दिशा में लोगों के नेत्रों को प्यारा पूर्वविदेह स्थित है। वहाँ उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप से कालचक्र के आरे नहीं बदलते, तथा वहाँ लोक के नाथ तीर्थकर (सदैव) उत्पन्न होते रहते हैं। वहाँ नाभेय जिन (ऋषभनाथ), बाहुबलि, तथा भरत जैसे अरहंत, सिद्ध एवं चक्रवर्ती सदैव विद्यमान रहते हैं। वहाँ शत्रु के भय को न जाननेवाला पुष्कलावती नाम का देश है, जो जलनिधि के समान रत्नों को धारण करनेवाला है, जहाँ घरों के शिखरों से टकराकर बादल झरने लगते हैं। घने नंदनवन से वहाँ की दिशाएँ आच्छादित हैं तथा शस्य के कंपनशील तीक्ष्ण-अग्रभागों से उसकी समृद्धि दृश्यमान है। जहाँ दाँतों को कंपायमान करनेवाला शीतल पवन बहता है और कोकिला के सुमधुर स्वर से सब कंदर-विवर भर जाते हैं; क्रीड़ापूर्वक बहता हुआ वायु, सरल (सीधे) वृक्षों को कंपित कर देता है, चंचल हरिणियाँ सीधी छलाँग लगाती हैं और जहाँ खेतों में खड़ी हुई चंचल आँखोंवाली हालि (कृषक) वधुओं को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए पथिकों से मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तथा जहाँ ग्रामीणजन अत्यन्त प्रमोदपूर्वक रमण करते हैं, और जो नागरिकों के जोड़ों को (वहाँ रहने की) अभिलाषा उत्पन्न करता है।

घत्ता - उस देश में मणिजटित-प्राकार व जलप्रसार से युक्त परिखामंडल सहित तथा अनेक प्रकार के भोग भोगनेवाले लोगों से मंडित पुंडरिंकिणी नाम की नगरी है।

अनु. - डॉ. विमलप्रकाश जैन

कालावली की जयमाल

रचयिता - अज्ञात

अर्थ - प्रीति जैन



‘कालावली की जयमाल’ अपभ्रंश भाषा में रचित एक लघु रचना है। इसमें जैनदर्शन में मान्य काल (समय) के परिणमन की अवधारणा का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

इस रचना में रचयिता का नाम-समय आदि कुछ भी उल्लिखित नहीं है अतः यह रचनाकार के बारे में कुछ भी बताने में असमर्थ है।

यह रचना दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित ‘जैनविद्या संस्थान’ के पाण्डुलिपि भण्डार में संगृहीत गुटका संख्या-55, वेष्टन संख्या-253 में पृष्ठ संख्या 6 से 9 पर लिपिबद्ध है। इस भंडार में इस रचना की अन्य प्रति उपलब्ध नहीं है।

इस रचना में कुल सात कड़वक हैं। प्रथम कड़वक में रचनाकार ने उन भावों-स्थितियों, वांछाओं का वर्णन किया है जो उसे संसार-चक्र से छुटकारा दिलाने में सहायक हों। द्वितीय कड़वक में अवसर्पिणी काल के प्रथम काल ‘सुसमा-सुसमा’ का वर्णन है। तृतीय कड़वक में द्वितीय काल ‘सुसमा’ का वर्णन है। चतुर्थ

कड़वक में तृतीय काल 'सुसमा-दुसमा' का वर्णन है। पंचम कड़वक में चतुर्थकाल 'दुसमा-सुसमा' का वर्णन है। छठे कड़वक में पंचम काल 'दुसमा' का तथा सातवें कड़वक में छठे काल 'दुसमा-दुसमा' का वर्णन है।

'काल' अर्थात् 'समय', जिसके निमित्त या सहयोग से वस्तुओं का परिवर्तन ज्ञात होता है। संसार में घटित प्रत्येक क्रिया-कलाप, घटना काल/समय के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त होती है, प्रकट होती है। काल वस्तुओं, द्रव्यों के परिणमन-परिवर्तन में एक उदासीन सहायक है, निमित्त है।

जैनदर्शन में काल के मूलतः दो भेद माने गये हैं - 1. अवसर्पिणी काल व 2. उत्सर्पिणी काल। जिस काल में जीवों की आयु, बल, बुद्धि, शरीर की ऊँचाई, धन-सम्पदा, सुख आदि उत्तरोत्तर घटते हैं, हास की ओर उन्मुख होते हैं उस काल को 'अवसर्पिणी काल' कहते हैं और जब जीवों की आयु आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, विकास की ओर उन्मुखता होती है तब 'उत्सर्पिणी काल' कहलता है। काल एक चक्र (पहिये) की भाँति निरन्तर गतिमान है। जैसे - एक गतिमान चक्र (पहिया) ऊपर से नीचे - नीचे से ऊपर - इसी क्रम से घूमता हुआ गति करता है उसी प्रकार काल-चक्र भी गति करते हुए ऊपर अर्थात् उन्नति/विकास से नीचे अवनति/हास की ओर आता है और फिर नीचे अर्थात् अवनति/हास से ऊपर उन्नति/विकास की ओर जाता है। यह ऊपर से नीचे अर्थात् उन्नति/विकास से अवनति/हास की ओर या सुख से दुःख की ओर अग्रसर काल 'अवसर्पिणी काल' कहलाता है और अवनति/हास से उन्नति/विकास की ओर, दुःख से सुख की ओर अग्रसर काल 'उत्सर्पिणी काल' कहलाता है।

इन दोनों कालों में उन्नति/विकास व सुखों के स्तर के अनुरूप छह-छह उपविभाग माने गये हैं। अवसर्पिणी काल के छह उपविभाग हैं -

1. सुसमा-सुसमा, 2. सुसमा, 3. सुसमा-दुसमा, 4. दुसमा-सुसमा,
5. दुसमा और 6. दुसमा-दुसमा।

'समा' का अर्थ है - काल, समय। 'समा' में 'सु' = अच्छा व 'दु' = बुरा विशेषण लगाने से सुसमा-दुसमा शब्द बने हैं, ये विशेषणयुक्त शब्द स्वतः

ही अपना अर्थ स्पष्ट करते हैं। अर्थात् जब अच्छा समय, अच्छा काल हो तब वह 'सुसमा' है और जब बुरा है तो 'दुसमा' है। इन्हें बोलचाल की भाषा में 'सुखमा व दुखमा' भी कहा जाता है, ये शब्द भी अपने भाव को स्पष्ट करते हैं। जब सुख की ओर गति हो तब 'सुखमा' और जब दुःख की ओर गति हो तो 'दुःखमा'। गणना के अनुसार सुसमा-सुसमा को पहला काल, सुसमा को दूसरा काल, सुसमा-दुसमा को तीसरा काल, दुसमा-सुसमा को चौथा काल, दुसमा को पाँचवाँ काल तथा दुसमा-दुसमा को छठा काल भी कहा जाता है।

1. सुसमा-सुसमा (सुखमा-सुखमा)

इस काल में सर्वत्र सुख ही सुख होता है। भूमि धूल व कंटक आदि से रहित होती है। मनुष्य सदाचारी व निर्व्यसनी होते हैं, परस्पर ईर्ष्या व द्वेष रखनेवाले नहीं होते।

इस काल में परिवार, ग्राम, नगर आदि की व्यवस्था नहीं होती, न कोई व्यापार आदि होता। लोग कुछ भी परिश्रम-कार्य आदि नहीं करते। दस प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा उनकी वस्त्र, भोजन, घर, आभूषण आदि आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। लोग कल्पवृक्षों से अपनी आवश्यकता व वांछा के अनुसार वस्तु की याचना करते हैं, कल्पवृक्ष उन्हें वे सामग्री प्रदान कर देते हैं। इसप्रकार इस काल में किसी प्रकार का अभाव या दुःख नहीं होता, अतः जीव सुख ही सुख का भोग करते हैं, इसलिए यह काल उत्तम भोग-काल या भोग-भूमि कहलाता है। इस काल की अवधि चार कोडाकोडी सागर होती है। इस काल से देह की ऊँचाई, बल, आयु शनैः-शनैः घटने लगते हैं।

2. सुसमा (सुखमा)

इस काल में भी जीव सुखपूर्वक रहते हैं, यह काल मध्यम भोग-काल/भोग-भूमि कहा जाता है। इस काल की अवधि तीन कोडाकोडी सागर है।

3. सुसमा-दुसमा (सुखमा-दुखमा)

इस काल में सुख के साथ दुःख भी रहता है। यह जघन्य भोग-भूमि/भोग-काल कहलाता है। इस काल की अवधि दो कोडाकोडी सागर है। यह काल

भोग-भूमि/काल की समाप्ति तथा कर्मभूमि की ओर अग्रसर है। इस काल में कल्पवृक्ष समाप्त होने लगते हैं। इस काल की कुछ अवधि (1/8 पत्य) शेष रहने पर कुलकरों की उत्पत्ति प्रारंभ हो जाती है, कुल चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं, जो मनुष्यों को कर्म द्वारा जीवन-यापन की शिक्षा देते हैं, नई व्यवस्थाएँ करते हैं।

4. दुसमा-सुसमा (दुखमा-सुखमा)

इस काल में सुख कम होने लगते हैं, दुःख बढ़ने लगते हैं। कल्पवृक्ष समाप्त हो जाते हैं। तब इन्हें कुलकरों द्वारा असि (शस्त्र विद्या), मसि (लेखन विद्या), कृषि (खेती), विद्या (गान-नृत्य आदि), वाणिज्य (व्यापार) और शिल्प (हस्तकला) इन छः कर्मों के द्वारा जीवन-यापन करना सिखाया जाता है।

इस काल में त्रेसठ शलाका पुरुष - 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण जन्म लेते हैं।

इस काल की अवधि एक कोडाकोडी सागर (में 42,000 वर्ष कम) होती है।

5. दुसमा (दुखमा)

इस काल में दुःख की अधिकता होती जाती है। वर्तमान में यही काल (अवसर्पिणी का पंचम काल - दुसमा) वर्त रहा है। इस काल की अवधि 21,000 वर्ष है। इस अवसर्पिणी के अन्तिम (चौबीसवें) तीर्थकर महावीर के मोक्ष प्राप्ति के तीन वर्ष, आठ माह व एक पक्ष के पश्चात् यह काल प्रारंभ हुआ था। इस समय पंचम काल के लगभग 2537 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

इस काल में मनुष्यों की ऊँचाई, बल व आयु घटती जाती है। अधिकतम आयु 120 वर्ष तथा ऊँचाई सात हाथ तक हो सकती है।

6. दुसमा-दुसमा (दुखमा-दुखमा)

इस काल में दुःख ही दुःख होता है। इस काल में अग्नि का हास हो जाने के कारण मनुष्य 'कच्चा' भोजन ही करते हैं, दुराचारी व दरिद्री होते हैं,

वनों-कन्दराओं-पर्वतों में निवास करते हैं। उनके घर, वस्त्र, कुटुम्ब-परिवार कुछ नहीं होता। मनुष्यों की ऊँचाई घटते-घटते साढ़े तीन हाथ तथा आयु 20 वर्ष तक रह जाती है। इस काल की अवधि भी 21,000 वर्ष है।

यह काल अवसर्पिणी काल का अन्तिम काल होता है। कालचक्र अब नीचे से ऊपर अर्थात् अवनति से उन्नति की ओर अग्रसर है अतः इसके बाद उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होगा। उत्सर्पिणी में सबसे पहले दुसमा-दुसमा प्रारंभ होगा, फिर दुसमा, दुसमा-सुसमा, सुसमा-दुसमा, सुसमा और सुसमा-सुसमा होंगे अर्थात् उत्सर्पिणी में छठा, पाँचवाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा व पहला यह क्रम रहता है। इस प्रकार काल सर्प की चाल से गतिमान होता है, संभवतः इसी कारण इसे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कहा जाता है।

इन दोनों कालों की समय-अवधि दस-दस कोडाकोडी सागर है। दोनों कालों का सम्मिलित समय 'एक कल्प' कहलाता है।

इस लघु रचना की पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने के लिए जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक एवं अपभ्रंश साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ. कमलचन्दजी सोगानी की आभारी हूँ।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी की शोध-पत्रिका 'अपभ्रंश भारती' में इसे प्रकाशित करने के लिए मैं पत्रिका के सम्पादक एवं सम्पादक-मण्डल के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

हम-आप इस छोटी-सी रचना को पढ़ें, काल/समय का स्वरूप व गति समझकर, समय का सदुपयोग करते हुए कालजयी बनने का प्रयास करें, उस ओर अग्रसर हों - यही भावना है।

कालावली की जयमाल

1. जहिं होहम्मि भवे भवे। तहि देहम्मि णवे णवे।
 दुक्ख लक्ख णिण्णासणे। भंति जिणसासणे छ॥1॥
 अवरु णिरंतरु उज्झिय गव्वे। इय मग्गेव्वउ मणुएं भव्वे॥2॥
 चित्तु धुत्त सिद्धंत परम्मुहं। भवि होउ जिणागमे सम्मुहं॥3॥
 पंचिंदिय पडिभड वलु भज्जउ। भवि विमलु बुद्धि उप्पज्जउ॥4॥
 विसय-कसाय राय परिचत्तउ। भवे भवि होउ तिगुत्ति पयत्तउ॥5॥
 आसापासणि वंधणु तुट्टउ। भवे भवि मोहजालर्ड हट्टउ॥6॥
 संजयसहु संग सोहि य मले। भवे भवि जम्मु होउ सावयकुले॥7॥
 रइ य मूढहो संवोहण मारा। भवे भवि रिसि गुरु होंतु भडारा॥8॥
 दीणि करुण उप्पेक्ख दयंतए। भवि भवि रइ वुट्टउ गुणवंतए॥9॥
 वय-जोग्गउ सरीरु उप्पज्जउ। भवि भवे तव-सिहि-तावे छिज्जउ॥10॥
 धणु परियणु पुरु घरु मा दुक्कउ। भवे भवे उरि उवसम सिरि थक्कउ॥11॥
 ण रमउं णारि-रूवे हियउल्लउ। भवि भवि होउ णिरहु णीसल्लउ॥12॥
 उंसारिय दहपंच पमाणं। भवे भवि दियहं जंतु सज्झाएं॥13॥

अर्थ -

- 1.1 भव-भव में (प्रत्येक भव में) (में) जहाँ नई-नई देह में (उत्पन्न) होऊँ वहाँ जिनशासन में (मेरी) भक्ति होवे (और) दुःख के विनाश में लक्ष्य (होवे)।
- 1.2 अन्य (दूसरे) मनुष्य भव में (भी) मान (अहंकार) से मुक्त यह (जिनशासन ही) निरन्तर माँगा जाने योग्य है (माँगा जाना चाहिये)।
- 1.3 भव-भव में (मेरा) चित्त वंचक (मायावी, धोखा देनेवाले) सिद्धान्तों से उदासीन (विमुख होवे) तथा जिनागम (जैन शास्त्रों व जिनशासन) में अभिमुख (प्रवृत्त) होवे।
- 1.4 भव-भव में (मेरे) प्रतिपक्षी (प्रतिद्वन्द्वी, विरोधी) पंच-इन्द्रियों का बल (सामर्थ्य) ध्वस्त होवे और (मेरी) विमल (शुद्ध) बुद्धि उत्पन्न होवे।
- 1.5 भव-भव में मेरे विषय-कषाय-राग छूटें (और) तीन गुप्तियों में (मेरी) प्रवृत्ति होवे (प्रयत्न होवे)।
- 1.6 भव-भव में आशा के जाल का बंधन टूटे (और) मोह का जाल नष्ट होवे।
- 1.7 भव-भव में श्रावककुल में (मेरा) जन्म हो, चतुर्विध संघ (मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका) की संगति होवे और पाप कर्म (रूपी मल) संशोधित होवे।
- 1.8 भव-भव में (मुझ जैसे) आसक्ति में डूबे हुए (मूढ़, मुग्ध) जनों की मृत्यु पूज्य ऋषि-गुरु के संबोधन से (संबोधनपूर्वक) होवे।
- 1.9 भव-भव में गुणवान-दयावान के द्वारा दीन-करुण (दया के पात्र) - उपेक्षित (जनों) के प्रति प्रेम बढ़े।
- 1.10 भव-भव में (मेरे) व्रत (करने) योग्य (व्रत करने में समर्थ) शरीर उत्पन्न होवे (और) तपस्या की अग्नि के ताप से उस (शरीर) का विच्छेद किया जाये (अर्थात् तपस्यापूर्वक देहत्याग हो)।
- 1.11 (मेरी) धन (स्थावर सम्पत्ति में), घर-परिवार में अधिक प्रवृत्ति न होवे, भव-भव में मन इन्द्रिय-निग्रह कर (नियंत्रण, संयम कर), सब छोड़कर (त्याग कर) स्थिर होवे।
- 1.12 नारी के रूप में अनुरक्त (आसक्त) न होऊँ, (और) भव-भव में मन (अन्तःकरण) शल्यरहित, पापरहित (निष्कलुष) होवे।
- 1.13 भव-भव में (मन) पन्द्रह प्रमादों से दूर किया हुआ होवे, दिन स्वाध्याय में जावे (व्यतीत होवे)।

दंसण-णाण-चरित्त पयासें। भवे भवे मरणु होउ सण्णासें॥14॥

मित्तहं रिउहं विसम चित्तहिं। विसम परीसह सहणुब्भासहिं।

रोया तं कहिं कासहिं सासहिं॥15॥

जम्मण-मरण णिवंधें आइउ। एम खविज्जइ कम्म पुराइउ॥16॥

घत्ता- जिह हय णिज्झरणें, वद्धे चरणें, रवि करेहिं सरु सोसइ।

तिह णियमिय करणें, रिसि तवचरणें, भव किउ कम्म पणासइ॥1॥ खंड्यं

2. अवसप्पिणि-उवसप्पिणिहिं। छह भेयहिं जहिं संट्टियउ।

कहि कालु चक्कु परमेसर। कहियहु वहइअ णिट्टियउ॥ठ॥

परमेसरेण रविकित्ति वुत्तु। पढमाणिउं उ सुणि एय चित्तु॥1॥

दह खेत्तहि भरहेरावएहिं। अवसप्पिणि उवसप्पिणि य होइ॥2॥

तहिं सुसमुसुसमु णामेण कालि। अवयरिउ पहिल्लउ सुहविसालु॥3॥

तहिं तिण्णिक्केस देहहु पमाणु। आउसु वि तिण्णि पल्लइं वियाणु॥4॥

तहि कालि सयलु यहु भरहु खेत्तु। कप्पहुमेहिं छायाउ विचित्तु॥5॥

रवि चंदु करहि तहिं पसरु णाहिं। कप्पहुमेहिं णर विद्धि जाहिं॥6॥

इह भोयभूमि समसरिसु आसि। अणुहवहिं जीव वहु सुहहं रासि॥7॥

तहो कोडाकोडि चयारिमाणु। सायरहं कहिउ जु यलहं पमाणु॥8॥

- 1.14 भव-भव में संन्यास द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र (की प्राप्ति) के प्रयास द्वारा मरण होवे।
- 1.15 मित्रों के लिए (प्रति), शत्रुओं के लिए (प्रति) और कठोर चित्तवालों के लिए (प्रति) मन शांत होवे, परीषह (पीड़ा), रोग (के हेतु) कफ, खाँसी-श्वास (आदि) सहन किये जाएँ।
- 1.16 इस प्रकार (ऐसे) जन्म-मरण-संयोगरूप संसार (एवं) पूर्व में किये कर्म नष्ट किये जायें।
- 1.17 घत्ता- जिसप्रकार सूर्य (अपने ताप से) तालाब (के पानी) का शोषण करता है (सुखाता है) उसी प्रकार संयम व चारित्र में कुशल (अनुभवी), इन्द्रिय-नियंत्रित किये हुए (अर्थात् संयमी) ऋषि-मुनि (अपनी) तपस्या के द्वारा (पूर्व में) किये गये (किये हुए) कर्मों का और संसार का नाश करते हैं।
2. परमेश्वर (जिनेन्द्र भगवान) के द्वारा कहा गया कालचक्र अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के छः भेदों में जहाँ कहाँ संस्थित है वह समस्त अभिव्यक्त है।
 - 2.1 परमेश्वर के द्वारा लाया गया यह प्रमुख (एवं) विस्तृत (विषय-प्रकरण) मन से सुना।
 - 2.2 भरत और ऐरावत (क्षेत्र के) दस भागों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल होता है।
 - 2.3 वहाँ सबसे पहला व्यापक (अत्यन्त, उत्तम) सुखवाला 'सुसम-सुसम' नामवाला काल उत्पन्न हुआ।
 - 2.4 उस (काल) में मनुष्यों की देह का प्रमाण (आकार) तीन कोस और आयु तीन पल्य जानो।
 - 2.5 उस काल में यह समस्त भरतक्षेत्र अद्भुत कल्पवृक्षों द्वारा आच्छादित था।
 - 2.6 (उस काल में) वहाँ सूर्य व चन्द्रमा प्रसार नहीं करते, मनुष्य कल्पवृक्षों द्वारा ही वृद्धि/विकास को प्राप्त करते हैं।
 - 2.7 (उस समय) यह भोगभूमि शांत और समरूप (उत्पातहीन) थी, (जहाँ) जीव अत्यन्त सुख-राशि (आनन्द-समूह) का अनुभव करते हैं।
 - 2.8 उस काल का प्रमाण (समय की अवधि) चार कोडाकोडी सागर¹-परिमाण कहा गया है।

1. एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर आगत फल (संख्या) एक कोडाकोडी कहलाता है।

घत्ता-आहरण विहूसिय देहहिं। विलसहि मिहुणइ विविह सुह।
णवि कोहु मोहु भउ आवइ। णवि जर-मरण अकालि तहो॥9॥(1)

3. तहो कालहो पछइ सुसमु कालु। उप्पणु आसि वहु सुह विसालु॥1॥

उच्चतु आसि दुइ कोस देहु। णवि इट्ट-विउउ ण कोहु मोहु॥2॥

पल्लोपम तहि दुइ आसि आउ। जणु वसइ सयलु सुह जणिय भाउ॥3॥

सो कोडाकोडिउ तिण्णि जाम। सायरहि कहिउ इह भरहि ताम॥4॥

दह भेय कप्पतर वर विचित्त। आहार देहिं दिवि दिवि णिचिंत्त॥5॥

सेज्जासणु तरवर केवि दिंति। उज्जोउ केइ रयणिहिं करंति॥6॥

खज्जूर दाख वहु रस सुयंधु। तरु देहिं म जु जुयलहिं सुयंधु॥7॥

सोलह आहरण पमाण घडिया। संपाडहिं तरुवर रयण जडिया॥8॥

णाणा पयारु परिमलु वहंतु। तहं देहि वत्थ जुयलहं महंतु॥9॥

घत्ता-जं अण्ण भवंतरि भावें। दाणु सुपत्तहं दिण्णउ।

तं कप्पमहातरु वेसिं। तित्थु पुण्णि उप्पण्णउं॥10॥(2)

- 2.9 घत्ता- (तब) स्त्री-पुरुष का जोड़ा (युगल, मिथुन) आभूषण-विभूषित देह के द्वारा विविध सुख भोगता है। उनके क्रोध, मोह, भय प्राप्त नहीं होता, न ही उनके वृद्धावस्था व अकालमरण होता।
- 3.1 उस काल के बाद सुखमा (सुसमा) काल उत्पन्न हुआ (जिसमें) अत्यन्त विशाल (व्यापक) सुख हुआ।
- 3.2 (उस काल में मनुष्य की) ऊँचाई दो कोस थी। (तब उनके) न ही इष्ट का वियोग था न क्रोध (और) मोह (मूढ़ता, अज्ञान) था।
- 3.3 वहाँ (मनुष्यों की) आयु दो पत्य थी, सब जन सुख से उत्पन्न भाव से (सुखपूर्वक, संतोषपूर्वक) रहते थे।
- 3.4 तब भरतक्षेत्र में वह (काल) तीन कोडाकोडी सागर प्रमाण कहा गया है।
- 3.5 (तब) दस प्रकार के कल्पवृक्ष (थे, जो) प्रतिदिन श्रेष्ठ (उत्तम), अद्भुत आहार देते थे (जिससे लोग) प्रतिदिन निश्चिन्त/चिन्तारहित रहते थे।
- 3.6 कितने ही (कोई) उत्तम वृक्ष (कल्पवृक्ष) घर, शैया, धान्य (आदि) देते, कितने ही रात में प्रकाश करते।
- 3.7 (कितने ही/कोई कल्पवृक्ष) बहुत रस और सुगंधयुक्त खजूर (छुआरा), दाख (आदि खाद्यपदार्थ) देते, (कोई) युगलों को उत्तम आहार देते।
- 3.8 वे (कोई) उत्तम वृक्ष (कल्पवृक्ष) वांछा के अनुसार प्रार्थित (चाहे हुए) रत्नजटित व निर्मित सोलह परिमाण (संख्या तक) आभूषण देते।
- 3.9 वहाँ युगल (अपनी) देह पर नाना प्रकार के सुगंधित द्रव्य व उत्तम वस्त्र धारण करते।
- 3.10 घत्ता- (इन) महान कल्पवृक्ष-काल में उत्पन्न होने के लिए दूसरे/अन्य (पूर्व के) भवान्तर में सुपात्रों के लिए जो कुछ भाव से (भावपूर्वक) दिया गया दान, (किया गया) पुण्य (व) तीर्थ ही कारण है (यही) विशेषरूप से वांछनीय है।

4. उप्पण्णउ तिज्जउ कालु आसि। किंचूण किंपि सो सुक्खरासि॥1॥
 तहो सुसमुदुसमु इहु कहिउ णाउ। जणु कालवसें मणे किसिय काउ॥2॥
 तहि एक्क पल्लु आवसु कहंति। अवसाणि पिंडु छिंक्कइ मुयंति॥3॥
 उप्पजहि जायवि सग्ग लोइ। पल्लोपम आउसु एक्क होइ॥4॥
 जे जुयल भोयभूमिहि मरंति। खीरोवहि पिंडु विंतर खिवंति॥5॥
 अवसप्पिणि आयहिं तिण्णि काल। वर भोयभूमिसम सुह विसाल॥6॥
 अवसप्पिणिणए अवसाणि होंति। वढ्चु आउ सुह अणुहवंति॥7॥
 उच्चत्त आसि तहि कालि कोसु। गउ कोडाकोडिउ दुइ असेसु॥8॥

घत्ता-अवसाणि तासु वहु लक्खण। कुल गुण णय संपुण्ण।
 इह भरहि चउदह कुलयर। आसि पुव्वि उप्पण्ण॥9॥(3)

5. कुलयरहं णिवेसिय देसगाम। कुल गोत सीम किय पुर पगाम॥1॥
 परिगलिय तिण्णि तहि काल एम। अणुकम्मेण भरहि अवयरिय जेम॥2॥
 चउथउ पुणु कालु कम्मेण आउ। उप्पण्णु जणहो तहि धम्म भाउ॥3॥
 तहो दुसमुसुसमु इहु णाउ कहिउ। वा याल वरिस सहसेहिं रहिउ॥4॥
 सो एक्क कोडिकोडिहिं वूहु। सायरहं गणिउ कालहं समूहु॥5॥

- 4.1 (फिर) तीसरा काल प्रारंभ/उत्पन्न हुआ। (इस काल में) वह सुखराशि कुछ कम हुई।
- 4.2 उस (काल) का 'सुसमा-दुसमा' (सुखमा-दुखमा) यह नाम कहा गया। (तब/ इस काल में) काल के वश से (प्रभाव से) लोग क्षीणकाय (दुर्बल) हुए।
- 4.3 वहाँ आयु (पड़ाव, अस्थायी निवास) एक पल्य की कहते हैं। (आयु के) अवसान में/पर (लोग) छींकते हुए देह छोड़ते हैं (मरते हैं)।
- 4.4 (वे) स्वर्गलोग में जाकर उत्पन्न होते हैं, (वहाँ उनका) आवास (आयु) एक पल्योपम होता है।
- 4.5 जो युगल भोगभूमि में मरते हैं (उनकी) देह (शरीर) को व्यंतर जाति के देव क्षीरसागर में डालते हैं।
- 4.6 अवसर्पिणी काल के आने पर तीसरा काल भोगभूमि के तुल्य/समान श्रेष्ठ (उत्तम) व विशाल सुखवाला होता है।
- 4.7 अवसर्पिणी के अवसान पर (अन्त में) विकास (वृद्धि) आयु, सुख (आदि) अल्प हो जाते हैं (होते जाते हैं)।
- 4.8 तब/उस (काल) में मनुष्यों की आयु (व) लम्बाई कम (पतित) हो गई और इस प्रकार संपूर्ण दो कोडाकोडी (सागर का समय) व्यतीत हो गया।
- 4.9 घत्ता- उस (काल) के अन्त में इस भरतक्षेत्र में विशेष, कुल, गुणों-युक्तियों-लक्षणों से सम्पन्न, पूर्वो (शास्त्रों, आगम ग्रन्थों) के ज्ञाता चौदह कुलकर उत्पन्न हुए।
- 5.1 कुलकरों के द्वारा पहले इच्छानुकूल जनपद, ग्राम, क्षेत्र, वंश-कुल-गोत्र (आदि) स्थापित किये गये।
- 5.2-3 भरत क्षेत्र में इस प्रकार तदनुसार अनुक्रम से तीसरा काल (सुसमा-दुसमा) समाप्त हुआ, तब क्रम से चौथा काल आया। वहाँ लोगों में धर्म-भाव उत्पन्न हुआ।
- 5.4 उस (काल) का 'दुसमा-सुसमा' (दुखमा-सुखमा) यह नाम कहा गया। यह काल सहस्रों वर्षों (तक) रहा।
- 5.5 काल का वह समूह एक कोडाकोडी सागर की गणना का कहा गया।

उप्पण्णु तित्थु तित्थयर देव। चक्केसर हलहर महिस सेव॥6॥

तिखंडणाह पडिवासु देव। चउवीस महातहि कामदेव॥7॥

आगम पुराण चउसट्टि भेय। केवलि परमेसर रिसि अणेय॥8॥

णव णाराइण एयारह वि रुद्ध। उपपण्ण पयड जिह जगि समुद्ध॥9॥

घत्ता-हलहर केसवकित्ति। धम्म पयत्तण तित्थइ।
अइसय केवलणाण। इ हुवइं कालि चउत्थइ॥10॥(4)

6. पंचमउ कालु दूसमू रउदु। होएसइ भारिउ दुह सम्मुहु॥1॥

तहिं दुक्खिय हेसइ लोय ताम। गय वरिस सहस इक्वीस जाम॥2॥

उच्चत्तु तित्थु आहुट्ट हत्थ। वीसहि वीसासउ णिरत्त॥3॥

कंदल पिय णरवइ अत्थलुद्ध। होएसहिं अवरोप्परु सकुद्ध॥4॥

लुट्टेसहि पट्टण गामदेस। दंडीसहिं पामर जण असेस॥5॥

कंदर गिरि वण चरवण पवेसि। णिवसेसहि णर मिछा हि देसि॥6॥

उव्वसहो एस हि वि विह गाम। आसातर वर होसहि पगाम॥7॥

भंजेसहि मढ देवल विहार। पूरेसहि सरवर जल अपार॥8॥

घत्ता-जणु होसइ दुट्ट हे भत्तउ। जीव वहेसइ पावमइ।

उवहासु करेसहि जिणवरहो। परधण महिला सत्तइ॥9॥(5)

- 5.6-7 वहाँ तीर्थ के प्रवर्तक देव (तीर्थकर), चतुर्विध संघ, चक्रवर्ती, बलदेव (हलधर), तीन खंड पृथ्वी के नाथ/राजा (अर्धचक्रवर्ती), प्रतिवासुदेव (और) चौबीस श्रेष्ठ कामदेव उत्पन्न हुए।
- 5.8-9 (तब) चौंसठ प्रकार (भेदोंवाला) आगम-पुराण, अनेक केवलि परमेश्वर (और) ऋषि (हुए), (तथा) नौ नारायण, ग्यारह रुद्र संसार-समुद्र में प्रकट हुए।
- 5.10 घत्ता- इस प्रकार चौथा काल बलदेव, नारायण, धर्म, तीर्थ (व) केवलज्ञान से परिपूर्ण होता है (हुआ)।
- 6.1 पाँचवाँ 'दुसमा' (दुखमा) काल भीषण (भयंकर, दारुण) कष्टकर, दुःखों का सागर होगा।
- 6.2 जब तक इक्कीस हजार वर्ष व्यतीत (होंगे) तब तक वहाँ लोग दुःखी होंगे।
- 6.3 वहाँ (मनुष्यों की) ऊँचाई साढ़े तीन हाथ (होगी)। आयु एक सौ बीस वर्ष (अधिकतम) (होगी) (लोग) अत्यधिक आसक्ति-युक्त (होंगे)।
- 6.4 राजा कलहप्रिय, धन के लोभी होंगे और एक-दूसरे पर/परस्पर क्रोधयुक्त होंगे।
- 6.5 सब परस्पर ग्राम, देश, पत्तन (आदि) लूटेंगे, अज्ञानीजन प्रताड़ित किये जायेंगे।
- 6.6 मनुष्य (परस्पर) द्वेष करनेवाले होंगे, झूठे होंगे; कंदराओं (गुफाओं) में, पहाड़ों में प्रवेश करनेवाले, घूमनेवाले, निवास करनेवाले होंगे।
- 6.7 मार्ग, गाँव, जनपद निर्जन होंगे। (उनमें) आशा (व) कामना (इच्छा) का वेग-बल अत्यधिक होगा।
- 6.8 (लोग) मन्दिर, उपाश्रय, मठों को भग्न (विनष्ट) करेंगे। सरोवर अथाह जल से भरेंगे (अर्थात् अतिवृष्टि से बाढ़ आयेगी)।
- 6.9 घत्ता- लोग दुष्ट होंगे, पापयुक्त होंगे; जीवों का वध करेंगे, (उन्हें) पीड़ा पहुँचायेंगे। जिनवर का उपहास करेंगे। परधन व परनारी पर आसक्त/लोलुप होंगे।

7. अइ दूसमु दुस्सुमु भीम कालु। होएसइ छट्टुउ दुह विसालु॥1॥

सोलह संवछर आउ तित्थु। उच्चतु वि होसइ एक्क हत्थु॥2॥

तहि कालि णाहि वउ णियमु धम्मु। जणु सयलु करेसइ असुह कम्मु॥3॥

णिवसेसइ गिरि-गुह-कंदरेहि। जल थल दुग्गं मि वणंतरेहि॥4॥

धण धण्णरहिय दुव्वल सरीर। आहार कंद उंवर करीर॥5॥

कय विक्कय वर ववहार चुक्क। रस तेल हीण पंगु रणमुक्क॥6॥

कम्मह अणिट्टु पाविट्टु दुट्टु। गलिगंड वाहि संगहिय थिट्टु॥7॥

खर फरस परोपर अप्प चित्त। होसइ अवरोप्परु कुहिय गत्त॥8॥

धम्मत्थ विवज्जिय दुक्खजालु। छट्टुउ अइ दूसहु कहिउ कालु॥9॥

घत्ता- इगवीस सहासइ वरिसइ। तासु पमाणु पयासिउ।

छह कालउ एहु समासें। माणु जिणिंदें भासियउ॥10॥(6)

इति कालावलि की जयमाल

- 7.1 (फिर) छठा 'दुसम-दुसम' (दुखमा-दुखमा) काल अत्यन्त भीषण, दुःखभरा होगा।
- 7.2 वहाँ (मनुष्यों की) आयु सोलह वर्ष और ऊँचाई एक हाथ होगी।
- 7.3 उस काल में व्रत, नियम, धर्म नहीं होगा; सब लोग अशुभ कर्म करेंगे।
- 7.4 लोग पर्वत-गुफा में, दुर्गम जल-थल में, वन के भीतर निवास करेंगे।
- 7.5 (लोग) धन-धान्य से रहित, दुर्बल शरीरवाले (होंगे), (वे) कन्दमूल, उदुम्बर, करीर (आदि जंगली वृक्षों के फलों) का आहार करेंगे।
- 7.6 (लोग) क्रय-विक्रय (व्यापार) से, श्रेष्ठ व्यवहार से भ्रष्ट/च्युत (होंगे), स्नेह-प्रेम से रहित, विकलांग (पंगु) व पलायनवादी होंगे।
- 7.7 (लोग) पापी, दुष्ट, दुर्विनीत, अनिष्ट कर्म करनेवाले, ढीठ (तथा) रोग-व्याधि से युक्त होंगे।
- 7.8 (वे) आपस में/परस्पर कठोर, निष्ठुर व अल्पबुद्धि (ज्ञान) होंगे, परस्पर कुत्सित मन व शरीरवाले होंगे।
- 7.9 धर्म से रहित यह छठा काल अत्यन्त दुःख का जाल कहा गया है।
- 7.10 घत्ता- इसका परिमाण इक्कीस हजार वर्ष कहा गया है। जिनेन्द्र (भगवान) के द्वारा कहे गये ये छः काल संक्षेप में समझो।

इति कालावली की जयमाल

शब्दार्थ

1.1	शब्द	अर्थ
	जहिं	जहाँ, जिसमें
	होहम्मि	होऊँगा
	भवे-भवे	भव-भव में
	तहि	वहाँ
	देहम्मि	देह में
	णवे-णवे	नये-नये/नई-नई
	दुक्ख	दुःख (के)
	लक्ख	लक्ष्य
	णिणासणे	विनाश में/विनाश के लिए
	होउ	होवे
	भंति	भक्ति/श्रद्धा
	जिणसासणे	जिनशासन में
1.2	अवरु	अन्य, दूसरे
	णिरंतरु	निरंतर, व्यवधान-रहित
	उज्झिय	परित्यक्त, विमुक्त
	गव्वे	मान से, अहंकार से
	इय	यह
	मग्गेवउ	माँगा जाना चाहिये
	मणुणं	मनुष्य
	भव्वे	भव में
1.3	चित्तु	चित्त, मन
	धुत्त	वंचक, धोखा देनेवाले
	सिद्धंत	सिद्धान्त
	परम्महुं	विमुख, उदासीन
	भवि-भवि	भव-भव में
	होउ	होवे
	जिणागमे	जैन-शास्त्रों में
	सम्महुं	सम्मुख, अभिमुख
1.4	पंचिदिय	पाँचों इन्द्रियों (स्पर्शन-त्वचा, रसना-जीभ, घ्राण-नाक, चक्षु-आँख व श्रोत-कान)

	पडिभड	प्रतिपक्ष का योद्धा (दुश्मन)
	वलु	बल, सामर्थ्य
	भज्जउ	ध्वस्त होवे, नष्ट होवे
	भवे-भवि	भव-भव में (जन्म-जन्म में)
	विमलु	निर्मल, शुद्ध, मलरहित
	बुद्धि	बुद्धि
	उप्पज्जउ	उत्पन्न होवे
1.5	विसय ¹	इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले पदार्थ
	कसाय ²	क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार दुर्गुण
	राय	राग, आसक्ति
	परिचत्तउ	त्याग, छोड़ना
	भवे-भवि	भव-भव में
	होउ	होवे
	तिगुत्ति	तीन गुप्ति (मन, वचन, काय का गोपन, संयम)
	पयत्तउ	प्रयत्न, प्रवृत्ति
1.6	आसापासणि	आशा ³ का जाल (वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाओं का जाल)
	बंधणु	बंधन
	तुट्टउ	टूटे, नष्ट होवे
	भवे-भवि	भव-भव में
	मोहजालउ	मोह (अज्ञानता) का जाल
	हट्टउ	नष्ट होवे
1.7	संजय-सहु	मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका का (चतुर्विध) संघ
	संग	संगति, संसर्ग
	सोहि	संशोधित, शुद्ध किया हुआ
	य	और
	मले	बँधा हुआ कर्म
	भवे-भवि	भव-भव
	जम्मु	जन्म (उत्पत्ति)

1. विषय = इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले पदार्थों की रुचि।
2. कषाय = जो आत्मा को कृष करे, दुःख दे, जैसे - क्रोध-मान-माया व लोभा
3. आशा = वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा।

	होउ	होवे
	सावयकुले	श्रावक कुल में
1.8	रइ	आसक्ति
	य	पादपूरक अव्यय
	मूढहो	आसक्ति (मोह) में डूबा हुआ, मुग्ध
	संवोहण	संबोधन, ज्ञान
	मारा	मृत्यु
	भवे-भवि	भव-भव में
	रिसि	ऋषि-मुनि
	गुरु	गुरु
	होंतु	होवें
	भडारा	पूज्य
1.9	दीणि	दीन
	करुण	दया के पात्र
	उपेक्ख	उपेक्षित जन
	दयंतए	दयावान के द्वारा
	भवि-भवि	भव-भव में
	रइ	प्रेम
	वुद्धउ	बढ़े
	गुणवंतए	गुणवान के द्वारा
1.10	वय-जोगउ	व्रत-योग्य, व्रत करने में समर्थ
	सरीरु	शरीर, देह
	उप्पज्जउ	उत्पन्न होवे
	भवि-भवे	भव-भव में
	तव-सिहि-तावें	तपस्या की अग्नि के ताप द्वारा
	छिज्जउ	विच्छेद किया जाय
1.11	धणु	धन (में)
	परियणु	परिवार
	पुरु	प्रचुर, अधिक
	घरु	घर
	मा	नहीं
	दुक्कउ	प्रवृत्ति करना, प्रवेश करना

	भवे-भवे	भव-भव में
	उरि	मन
	उवसम	इन्द्रिय-निग्रह, संयम
	सिरि	छोड़कर
	थक्कउ	स्थिर होवे
1.12	ण	न, नहीं
	रमउं	अनुरक्त होऊँ, आसक्त होऊँ
	णारि-रूवे	नारी के रूप-सौन्दर्य में
	हियउल्लउ	मन, अन्तःकरण
	भवि-भवि	भव-भव में
	होउ	होवे
	णिरहु	पापरहित, निष्कलुष (निरघ-निरूअघ)
	णीसल्लउ ¹	निशल्य, शल्यरहित
1.13	उंसारिय	दूर किया हुआ
	दह-पंच	दस और पाँच, कुल पन्द्रह
	पमाएँ	प्रमाद से
	भवे-भवि	भव-भव में, जन्म-जन्म में
	दियहं	दिन
	जंतु	जावें, व्यतीत होवें
	सज्झाएं	स्वाध्याय में
1.14	दंसण	दर्शन
	णाण	ज्ञान
	चरित्त	चारित्र
	पयासें	प्रयास के द्वारा
	भवे-भवे	भव-भव में, जन्म-जन्म में
	मरणु	मृत्यु
	होउ	होवे
	सण्णासें	संन्यास के द्वारा, संन्यास में
1.15	मित्तहं	मित्रों के लिए (प्रति)
	रिउहं	शत्रुओं के लिए (प्रति)
	विसम-चित्तहिं	विषम-कठोर चित्तवालों के लिए (प्रति)

1. शल्य = मन को पीड़ा देनेवाला भावा।

	वि	और
	सम	शान्त
	परीसह	पीड़ा, कष्ट
	सहणुब्भासहि (सहण + उब्भासहि)	सहन करना
	रोया	रोग (के)
	तं	कारण, हेतु
	कहिं	कफ में
	कासहिं	खाँसी
	सासहिं	श्वास
1.16	जम्मण	जन्म
	मरण	मरण
	णिबंधें	संयोग
	आइउ	संसार
	एम	ऐसे
	खविज्जइ	नष्ट किये जायें
	कम्मु	कर्म
	पुराइउ	पूर्व में किये हुए
1.17	घत्ता जिह	जिस प्रकार
	हय	विनष्ट
	णिज्झरणें	जीर्ण, पुराना
	वद्धे	अनुभवी, कुशल
	चरणें	संयम-चारित्र में
	रवि	सूर्य
	करेहिं	करते हैं
	सरु	तालाब
	सोसइ	शोषण करना, सुखाना
	तिह	वैसे
	णियमिय	नियंत्रित
	करणें	इन्द्रियों (द्वारा)
	रिसि	ऋषि, तपस्वी

तवचरणों	तप के आचरण से, तपस्या से
भव	संसार, जन्म
किउ	किये हुए
कम्मु	कर्म
पणासइ	नाश करता है

सुखमा सुखमा

2.	अवसप्पिणि- उवसप्पिणिहिं	अवसर्पिणी- उत्सर्पिणी के
	छह	छह
	भेयहिं	भेद
	जहिं	जहाँ
	संठियउ	संस्थित हैं
	कहिं	कहाँ
	कालु-चक्कु	काल-चक्र, समय का चक्र
	परमेसर	परमेश्वर
	कहियउ	कहा गया, कहा हुआ
	वहइअ	पर्याप्त समग्र
	णिठियउ	अभिव्यक्त
2.1	परमेसरेण	परमेश्वर के द्वारा
	रवि-कित्ति	विस्तार से कहा गया (रव-कहना, कित्ति-विस्तार)
	वुत्तु	वृत्तान्त, विषय-प्रकरण
	पढमाणुउ	
	पढम+आणुउ	प्रमुख एवं लाया हुआ
	उ	पादपूरक अव्यय
	सुणि	सुन
	एय	यह
	चित्तु	चित्त से, मन से
2.2	दह-	दस
	खेत्तहिं	क्षेत्रों में
	भरहेरावएहिं	
	भरह+एरावएहिं	भरत और ऐरावत के

	अवसप्पिणि	अवसर्पिणी
	उवसप्पिणि	उत्सर्पिणी
	य	और
	होइ	होते हैं
2.3	तहिं	तब
	सुसमु-सुसमु	सुषमु-सुषमु (सुखमा-सुखमा)
	णामेण	नाम से
	कालि	काल/समय
	अवयरिउ	आया
	पहिल्लउ	पहला, प्रथम
	सुह-	सुख
	विसालु	उत्तम व्यापक
2.4	तहिं	उस (काल) में
	तिण्णि	तीन
	कोस	कोस
	देहहु	देह का
	पमाणु	प्रमाण (आकार)
	आउसु	आयुष्य, आयु
	वि	भी
	तिण्णि	तीन
	पल्लइं	पल्य
	वियाणु	जानो
2.5	तहि	उस
	कालि	काल में
	सयलु	समस्त
	यहु	यह
	भरहु	भरत
	खेतु	क्षेत्र
	कप्पहुमेहिं	कल्पवृक्षों द्वारा
	छायउ	आच्छादित
	विचित्तु	अद्भुत

2.6	रवि - चंदु करहि तहिं पसरु णाहिं कप्पदुमेहिं णर विद्धि जाहिं	सूर्य-चन्द्रमा करते हैं वहाँ प्रसार, फैलना नहीं कल्पवृक्षों द्वारा मनुष्य समृद्धि प्राप्त होते हैं
2.7	इह भोगभूमि- सम- सरिसु आसि अणुहवहिं जीव वहु सुहहं- रासि	यह भोगभूमि शांत समरूप थी अनुभव करते हैं जीव बहुत सुख की राशि
2.8	तहो कोडाकोडि चयारिमाणु सायरहं कहिउ जु यलहं यालहं पमाणु	तब कोडोकोडी चार-परिमाण (माप) संख्या सागर की कही गई पादपूरक काल का प्रमाण (आकार)
2.9	घत्ता आहरण विहूसिय देहहिं	आभूषण विभूषित, सजा हुआ देह के द्वारा

विलसहि	भोगता है
मिहुणइ	स्त्री-पुरुष का युग्म, जोड़ा, युगल
विविह	विभिन्न प्रकार के
सुहु	सुख
णवि	न ही
कोहु	क्रोध
मोहु	मोह
भउ	भय
आवइ	प्राप्त होता है, आता है
णवि	न ही
जरा	जरा (बुढ़ापा)
मरण-अकालि	अकाल-मरण (अकाल में मरण)
तहो	उनका

सुखमा

3.1

तहो	उस (के)
कालहो	काल के
पछइ	पश्चात्, बाद
सुसमु कालु	(सुखमा) सुषमा काल
उप्पणु	उत्पन्न हुआ
आसि	(था) हुआ
वहु	बहुत
सुह	सुख
विसालु	व्यापक, उत्तम

3.2

उच्चतु	ऊँचाई
आसि	थी
दुइ	दो
कोस	कोस
देहु	शरीर, देह
णवि	न ही
इइ	इष्ट, प्रिय का, वांछित
विउउ	वियोग

	ण	न
	कोहु	क्रोध
	मोहु	मोह
3.3	पल्लोपम	पल्योपम (माप विशेष)
	तहि	वहाँ
	दुइ	दो
	आसि	थी
	आउ	आयु
	जणु	लोग (जन)
	वसइ	रहते हैं
	सयलु	समस्त
	सुह-जणिय	सुख से उत्पन्न
	भाउ	भाव
3.4	सो	वह (काल/समय)
	कोडाकोडिउ	कोडाकोडी
	तिण्णि	तीन
	जाम	परिमाण
	सायरहि	सागर
	कहिउ	कहा गया
	इह	इस
	भरहि	भरत क्षेत्र में
	ताम	उस समय
3.5	दह	दस
	भेय	प्रकार के
	कप्पतर	कल्पवृक्ष
	वर	श्रेष्ठ
	विचित्त	अद्भुत
	आहारं	भोजन, आहार
	देहिं	देते हैं
	दिवि-दिवि	प्रतिदिन
	णिंचित	निश्चिन्त, चिन्तारहित

3.6	सेज्जा	घर
	सणु	शैया
	तर-वर	श्रेष्ठ वृक्ष/कल्पवृक्ष
	के वि	कोई, कितने ही
	दिति	देते
	उज्जोउ	प्रकाश
	केइ	कितने ही
	रयणिहिं	रात में
	करंति	करते हैं
3.7	खजूर	छुहारा, खजूर (फल)
	दाख	दाख (फल)
	वहु	बहुत
	रस	रसयुक्त, रसीले
	सुयंधु	सुगंध युक्त
	तरु	वृक्ष
	देहिं	देते हैं
	म	पादपूरक
	जु	पादपूरक अव्यय
	जुयलहिं	युगलों को
	सुयंधु सु+अंधु	उत्तम आहार
3.8	सोलह	सोलह (प्रकार के)
	आहरण	आभूषण
	पमाण	परिमाण
	घडिया	घड़े हुए, निर्मित
	संपाडहिं	प्रार्थित वस्तु देते
	तरुवर	उत्तम वृक्ष, कल्पवृक्ष
	रयण-जडिया	रत्नजटित, रत्न जड़े हुए
3.9	णाणा	अनेक
	पयारु	प्रकार के
	परिमलु	कुंकुम आदि सुगंधित पदार्थ/द्रव्य
	वहंतु	धारण करते

	तहं	वहाँ
	देहि	देह पर
	वत्थ	वस्त्र
	जुयलहं	युगल (स्त्री-पुरुष के जोड़े)
	महतु	उत्तम, श्रेष्ठ
3.10 घत्ता	जं	जो कुछ
	अण्ण-	अन्य
	भवंतरि	भवान्तर में
	भावे	भाव से, भावपूर्वक
	दाणु	दान
	सुपत्तहं	सुपात्रों के लिए
	दिण्णउ	दिया गया
	वं	कारण
	कप्प-महातरु	महान कल्पवृक्ष
	वेसिं	विशेष रूप से वांछनीय
	तित्थु	तीर्थ
	पुण्णि	पुण्य
	उप्पण्णउं	उत्पन्न होने के लिए

सुखमा-दुखमा

4.1	उप्पण्णउ	उत्पन्न (हुआ)
	तिज्जउ	तीसरा
	कालु	काल
	आसि	हुआ
	किंचूण	कुछ (थोड़ा) कम
	किंप्पि	कुछ भी
	सो	वह
	सुक्ख-रासि	सुख-समूह, सुखराशि
4.2	तहो	उस (काल) का
	सुसमु-दुसमु	सुखमा-दुखमा
	इहु	यह
	कहिउ	कहा गया

	णाउ	नाम
	जणु	लोग
	कालवसें	काल के वश (काल के प्रभाव से)
	मणे	विमर्शसूचक अव्यय
	किसिय	दुर्बल
	काउ	काया
4.3	तहि	वहाँ
	एक्क	एक
	पल्लु	पल्य
	आवसु	अवस्थान/आयु/पड़ाव
	कहंति	कहते हैं
	अवसाणि	अवसान पर (अन्त में)
	पिंडु	देह को
	छिंकइ	छींकते (हुए)
	मुयंति	मरते हैं / छोड़ते हैं
4.4	उपज्जहि	उत्पन्न होता है
	जायवि	जाकर
	सग्ग-लोइ	स्वर्ग लोक में
	पल्लोपम	पल्योपम
	आउसु	आयु
	एक्क	एक
	होइ	होती है
4.5	जे	जो
	जुयल	युगल (जोड़ा)
	भोगभूमिहि	भोगभूमि में
	मरंति	मरते हैं
	खीरोवहि	क्षीर-समुद्र में
	पिंडु	देह, शरीर
	विंतर	व्यन्तर जाति के देव
	खिवंति	डालते हैं

4.6	अवसप्पिणि ¹ आयहिं तिण्णिकाल वर भोयभूमि सम सुह विसाल	अवसर्पिणी (काल के) आगमन पर तीसरा काल श्रेष्ठ भोगभूमि (के) समान सुख व्यापक, अधिक
4.7	अवसप्पणिए अवसाणि होंति वढत्तु आउ सुहु अणु हवंति	अपसर्पिणी के अवसान (समाप्ति) पर होते हैं विकास आयु सुख अल्प, कम होते हैं
4.8	उच्चत्त आसि तहि कालि कोसु गउ कोडाकोडिउ दुइ असेसु	पतित (कम) हुए तब आयु लंबाई (परिमाण) व्यतीत हो गया, बीत गया कोडाकोडी दो पूर्ण, पूरा, संपूर्ण
4.9 घत्ता	अवसाणि तासु वहु	अन्त में उस (काल) के बहुत

-
1. ऐसा काल जिसमें जीवों (मनुष्य, तिर्यच आदि) की आयु, बल, ऊँचाई, सम्पदा आदि घटने लगती है, वह काल अवसर्पिणी कहलाता है, जिस काल में इनमें वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी कहलाता है।

लक्खण	लक्षण
कुल	कुल
गुण	गुण
णय	युक्ति
संपुण्ण	सम्पन्न
इह	यहाँ/इस
भरहि	भरत क्षेत्र में
चउद्दह	चौदह
कुलयर	कुलकर
आसि	हुए
पुव्वि	'पूर्व' शास्त्रों के जानकार
उप्पण्ण	उत्पन्न हुए

दुखमा-सुखमा

5.1	कुलयरहं	कुलकरों के द्वारा
	णिवेसिय	स्थापित
	देस-गाम	देश (जनपद) (व) ग्राम
	कुल	कुल, वंश
	गोत	गोत्र
	सीम	क्षेत्र
	क्रिय	किये
	पुर	प्रारंभ में/पहले
	पगाम	इच्छानुकूल
5.2	परिगलिय	क्षीण हुआ/समाप्त हुआ
	त्तिण्णि	तीसरा
	तहि	तब
	काल	काल
	एम	इसप्रकार
	अणुकम्मेण	अनुक्रम से
	भरहि	भरत क्षेत्र में
	अवयरिय	अवतरित हुआ, आया
	जेम	तदनुसार (अव्यय)

5.3	चउथउ पुणु कालु कमेण आउ उप्पणु जणहो वहि धम्मभाउ	चौथा फिर काल क्रम से आया उत्पन्न हुआ लोगों में वहाँ धर्म-भाव
5.4	तहो दुसमु-सुसमु इहु णाउ कहिउ वा याल वरिस सहसेहिं रहिउ	उस (काल) का दुखमा-सुखमा यह नाम कहा गया पादपूरक अव्यय काल वर्ष सहस्रों रहा
5.5	सो एक्क कोडिकोडिहिं वुहु सायरहं गणिउ कालहं समूहु	वह एक कोडाकोडी कही गई सागर की गणना काल का समूह
5.6	उप्पणु तित्थु तित्थयर-देव चक्केसर	उत्पन्न हुए चतुर्विध संघ तीर्थकर-देव चक्रवर्ती

	हलहर	हलधर, बलदेव
	महिस (महीस)	राजा
	सेव	सेव्य (सेवा करने योग्य)
5.7	तिखंडणाह	तीन खण्ड के नाथ
	पडिवासु देव	प्रतिवासु देव
	चउवीस	चौबीस
	महा	महान, श्रेष्ठ
	तहि	वहाँ
	कामदेव	कामदेव
5.8	आगम	आगम, धर्म ग्रन्थ
	पुराण	पुराण
	चउसट्टि-भेय ¹	चौंसठ भेदोंवाला
	केवलि	केवलि, केवलज्ञान से युक्त
	परमेशर	परमेश्वर
	रिसि	ऋषि
	अणेय	अनेक
5.9	णव	नौ
	णाराइव	नारायण
	एयारह	ग्यारह
	वि	और
	रुद्द	रुद्र
	उप्पण	उत्पन्न हुए
	पयउ	प्रकट, प्रत्यक्ष
	जिह	वाक्यालंकार
	जगि	संसार
	समुद्द	समुद्र

1. अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ इन नौ स्वर के ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत के अनुसार (3X9 =) 27 भेद; तैंतीस व्यंजन; अनुस्वार, विसर्ग व दो उपध्मानीय ये चार अयोगवाह अक्षर, इसप्रकार 27 + 33 + 4 = 64 चौंसठ अक्षरोंवाला।

5.10	घत्ता हलहर केसवकिति धम्म-पयत्तण तित्थइ अइसय केवलणाणइ हुवइं कालि चउत्थइ	बलदेव वासुदेव/नारायण धर्म-प्रवर्तन (आगे बढ़ता हुआ) तीर्थ परिपूर्ण, भरा हुआ केवलज्ञान हुआ काल में चीथे
------	--	---

दुखमा

6.1	पंचमु कालु दूसमु रउट्टु होएसइ भारिउ दुह-सम्मदु तहिं दुक्खिय होसइ लोय ताम गय वरिस सहस इक्कीस जाम उच्चत्तु तित्थु आहुट्ट हत्थ जे	पाँचवाँ काल दुखमा दारुण/भीषण होगा कष्टकर दुःख का समुद्र वहाँ दुःखी होंगे लोग तब तक व्यतीत, (बीतने तक) वर्ष हजार इक्कीस जब तक ऊँचाई वहाँ साढ़े तीन हाथ पादपूरक अव्यय
6.2		
6.3		

	वीसहि ¹ (वासहि)	(आवास करना) आयु
	वीसासउ	एक सौ बीस (वर्ष)
	(वीसा+सउ)	
	णिरत्त	अत्यधिक आसक्ति युक्त
6.4	कंदल-पिय	कलह-प्रिय
	णरवइ	राजा
	अत्थलुद्ध	अर्थ (धन) के लोभी/लोलुप
	होएसहिं	होंगे
	अवरोधक	परस्पर, आपस में
	सकुद्ध	क्रोधयुक्त
6.5	लुट्टेसहि	लूटेंगे
	पट्टण	नगर
	गाम	ग्राम
	देस	जनपद
	दंडीसहिं	प्रताड़ित किये जायेंगे
	पामरजण	अज्ञानी जन
	असेस	सब
6.6	कंदर	कंदरा-गुफा
	गिरि	पर्वत
	वण	वन, जंगल
	चरवण	गमन करना
	पवेसि	प्रवेश करनेवाले
	णिवसेसहि	निवास करेंगे
	णर	लोग
	मिछा	अच्छा , झूठे
	हि	वाक्यालंकार
	देसि	द्वेष करनेवाले
6.7	उव्वसहो	निर्जन
	एस	जनपद
	हि	पादपूर्ति

1. यहाँ 'वासहि' शब्द उपयुक्त होगा।

	विविह	विभिन्न
	गाम	ग्राम
	आसातर	इच्छाओं का वेग
	वर	प्रबल
	होसइ	होगा
	पगाम	अत्यधिक
6.8	भंजेसहि	विनाश करेंगे (नष्ट करेंगे)
	मढ	मठ (संन्यासियों के निवास-स्थल)
	देवल	मन्दिर, देवालय
	विहार	उपाश्रय
	पूरेसहि	भरेंगे
	सरवर	सरोवर
	जल	जल
	अपार	अथाह, अधिक
6.9 घत्ता	जणु	लोग
	होसइ	होंगे
	दुड्ड	दुष्ट
	हे भत्तउ	हे स्वामी
	जीव	जीवों का (को)
	वहेसइ	वध करेंगे, मारेंगे
	पावमइ	पापयुक्त
	उवहासु	उपहास
	करेसहि	करेंगे
	जिणवरहो	जिनवर का
	पर-धण	पर-धन (और)
	महिला	(पर) नारी (के प्रति)
	सत्तइ	आसक्त (होंगे)
	दुखमा-दुखमा	
7.1	अइ	अत्यधिक
	दुसमु-दुस्समु	दुखमा-दुखमा
	भीम	भीषण
	कालु	समय

	होएसइ	होगा
	छड्डउ	छठा
	दुह	दुःख
	विसालु	अत्यन्त
7.2	सोलह	सोलह
	संवछर	वर्ष
	आउ	आयु
	तित्थु	वहाँ
	उच्चतु	ऊँचाई
	वि	पादपूरक
	होसइ	होगी
	एक	एक
	हत्थु	हाथ
7.3	तहि	वहाँ, उस
	कालि	काल में
	णाहि	नहीं
	वउ	व्रत
	णियमु	नियम
	धम्मु	धर्म
	जणु	लोग
	सयलु	सब
	करेसइ	करेंगे
	असुह	अशुभ
	कम्मु	कर्म
7.4	णिवसेसइ	निवास करेंगे
	गिरि-गुह-कंदरेहि	पर्वत-गुफा-कन्दराओं में
	जल	जल
	थल	स्थल
	दुर्गं	दुर्गम
	मि	पादपूरक
	वणंतरेहि	वनों के भीतर

7.5	धण-धणरहिय दुव्वल सरीर आहार कंद उंवर करीर	धन-धान्य से रहित दुर्बल शरीर आहार-भोजन कंद फल उदम्बर फल जंगली वृक्षों के (फल)
7.6	कय-विक्रय वर ववहार-चुक्क रस तेल हीण पंगु रणमुक्क	क्रय-विक्रय (व्यापार) श्रेष्ठ व्यवहार से च्युत/भ्रष्ट प्रेम स्नेह रहित, न्यून विकलांग पलायनवादी
7.7	कम्मह अणिट्ट पाविट्ट दुट्ट गलिगंड वाहि संगहिय धिट्ट	कर्म अनिष्ट, अप्रिय अत्यन्त पापी दुष्ट दुर्विनीत (विनयरहित) व्याधि संग्रहित ढीठ (धृष्ट)
7.8	खर फरस परोपर अप्प चित्त होसइ अवरोप्परु कुहिय कु+हिय गत्त	निष्ठुर कठोर आपस में/परस्पर अल्प-कम बुद्धि, ज्ञान होंगे परस्पर कुत्सित मन देह

7.9	धम्मत्थ विवज्जिय दुक्खजालु छट्टउ अइ दूसहु कहिउ कालु	धर्म से रहित दुःख का जाल छठा अति, बहुत दुखपूर्ण/असह्य दुखवाला कहा गया काल, समय
7.10 घत्ता	इगवीस सहासइ वरिसइ तासु पमाणु पयासिउ छह कालहु एहु समासें माणु जिणिदे भासियउ	इक + बीस=इक्कीस हजार वर्ष उसका परिमाण प्रसिद्ध है (स्पष्ट है) छ काल ये संक्षेप में समझो जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये

(इति कालावलि की जयमाल)

-●-

अपभ्रंश साहित्य अकादमी
जयपुर

